

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182765

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

Call No. ^H801.9

^{P.G.H}
Accession No. 4419

P18 H

Author

पाण्डेय, फूलचन्द

Title

हिन्दी आलोचना की अपेक्षा

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दी आलोचना की रूपरेखा



श्री फूलचन्द्र पाण्डेय, एम० ए०



प्रकाशक

गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा

● प्रकाशक

गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा
कानपुर, जयपुर, गवालियर

● मूल्य तीन रुपये पचास नये पैसे

● प्रथम संस्करण १५-३-५६

● मुद्रक

जगदीशप्रसाद अग्रवाल, एम० ए०
डी एज्यूकेशनल प्रेस, आगरा

प्रिय नन्दिनी और आनन्द को
सस्नेह

—'डैडी'

दो शब्द

‘हिन्दी-आलोचना की रूपरेखा’ आप की सेवा में प्रस्तुत है। कह नहीं सकता कि मेरा प्रयास कहाँ तक आपकी आकांक्षा शान्त कर सकता है, पर मेरा विश्वास है कि हिन्दी-आलोचना का स्वरूप स्पष्ट करने में प्रस्तुत कृति सहायक हो सकेगी। मेरा यह ग्यास रहा है कि हिन्दी-आलोचना की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हुए हिन्दी-आलोचना-साहित्य की प्रगति पर विचार किया जाय। सिद्धान्तों के विवेचन एवं विश्लेषण का प्रश्न सलिए नहीं उठाया गया है कि साहित्य-शास्त्र प्रस्तुत विषय के बाहर की वस्तु है। यहाँ का उद्देश्य केवल साहित्य की ऐतिहासिक परम्परा प्रस्तुत करने का रहा है। आलोचना की प्रारम्भिक विचारधारा से लेकर आज तक की प्रमुख प्रणालियों एवं शिक्षा-पद्धतियों की ओर ध्यान दिया गया है और साथ ही मैंने इसका भी प्रयत्न किया है कि उनमें एक ऐतिहासिक क्रम बना रहे। मेरा परिश्रम तब सफल कहा जा सकता है यदि कृति पाठक की आकांक्षाओं को पूर्ति कर सके।

पुस्तक के लेखनकाल में मेरी धर्मपत्नी ललितारानी का पूर्ण सहयोग रहा है। साथ ही, अस्पष्ट या स्पष्ट तौर पर मुझे अपने कर्तव्यों की ओर ध्यान दिलाते हुए मुझे सतर्क करने वाले उन सभी मित्रों का आभार मानता हूँ—जिन्होंने जाने-अनजाने में मुझे उद्देश्य की ओर प्रयत्न करने के लिए प्रेरित किया है। जो कुछ लेखन-सम्बन्धी सामग्री इधर-उधर मिलती गयी है, उन सभी स्रोतों के प्रति आदर-प्रदर्शन मेरा कर्तव्य हो जाता है क्योंकि उनसे कुछ न कुछ मैंने सीखा है। प्रस्तुत कृति के रचना-काल में जिन कृतियों ने मेरा मार्ग-प्रदर्शन किया है, उनका मैं ऋणी हूँ। उन्हें धन्यवाद देकर या उनके प्रति आभार प्रकट कर अपना भार कम नहीं करना चाहता।

अन्त में मैं निवेदन करना चाहूँगा कि इस कृति में जो त्रुटियाँ हों या कुछ तत्त्व हों जिनका उल्लेख न हो सका हो, विज्ञ पाठक यदि हमें बता सकेंगे, तो अगले संस्करण में आवश्यक सुधार कर सकने में अपेक्षाकृत काफी सहायता मिल सकेगी।

आकाशवाणी
नयपुर।
सन्त पंचमी
२०१५

}

फूलचन्द्र पाण्डेय

विषयानुक्रमणिका

१. संस्कृत-समीक्षा का विकास			१
२. रीतियुगीन समीक्षा की प्रगति			२३
३. हिन्दी आलोचना की बदलती हुई दिशा			३२
४. हिन्दी का क्रान्ति युग और आलोचना			४१
५. हिन्दी आलोचना और रामचन्द्र शुक्ल			६४
६. हिन्दी आलोचना की नई दिशा			७६
७. उपसंहार			१०६

संस्कृत-समीक्षा का विकास

अन्य साहित्यिक विधाओं की भाँति आलोचनाशास्त्र की खोज भी संस्कृत के आदि साहित्य से किया जाना बहुत अधिक संगत प्रतीत नहीं होता है पर यह भी कहा नहीं जा सकता कि गुण-दोष के परखने और उसे स्पष्टतः सामने रखने की कोई परम्परा ही साहित्य-क्षेत्र में न थी। राजशेखर जैसे प्राचीन विद्वानों ने तो काव्यशास्त्र अथवा काव्य को ईश्वरजन्य मान कर, उसे ही एक प्रकार से आलोच्य विषय बना ही दिया है। आचार्य भरतमुनि के नाट्य शास्त्र को पंचम वेद मानने की विचारधारा की पृष्ठभूमि में यह बात मूलतः समायी हुई है कि लोगों ने उसकी उपादेयता, गम्भीरता एवं विचारधारा को अन्य प्राप्त सामग्री की अपेक्षा अधिक स्वीकार किया था। यह विचारधारा ही वस्तुतः आलोचना की मूल प्रवृत्ति है। मनुष्यमात्र में गुण-दोष परखने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति का संयत विकास मानव और उसकी सभ्यता के विकास के साथ-साथ होता आया है।

वैदिक युग में समालोचनाशास्त्र का कोई विकसित रूप था, इसे स्वीकार करना बहुत न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता, पर इसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती; क्योंकि उस समय के ऋषि-मुनियों में सौन्दर्यशास्त्र की सूक्ष्म दृष्टि अवश्य थी। वेदों की ऋचाएँ इसका प्रमाण हैं, जहाँ सुन्दर उक्तियों और अलंकारों का प्रयोग किया गया है। कुछ रस-सिद्धान्त के परिपोषक उपनिषद् के महावाक्य 'रसो वै सः' को रस-सिद्धान्त का मूल सूत्र मान कर रस-विकास की परम्परा को उपनिषद्-साहित्य से जोड़ देते हैं। इस प्रकार की उक्ति केवल तर्कमात्र हो सकती है पर इसका सत्यता से दूर होना सहज सम्भाव्य है। हो सकता है रस के आचार्यों को इस महामंत्र से प्रेरणा मिली हो, पर इसे इस रूप से स्वीकार कर लेना कि यह सूत्र ही रस का विकसित रूप है; पूर्णतः भ्रमात्मक है। आधुनिक वैदिक साहित्य के विशेषज्ञों ने तो इस पर काफी जोर दिया है कि वैदिक मंत्रद्रष्टा में समालोचक का स्वर है। इस सम्बन्ध में कुप्पुस्वामी का उल्लेख किया जा सकता है। उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि साहित्यिक समालोचना का मूल स्वरूप ऋग्वेद में ही मिलने लगता है। डॉ० शंकरन् ने भी इसके औचित्य पर

विचार करते समय इसे स्पष्ट किया है कि ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा को काव्य का पूर्ण स्वरूप स्पष्ट था। उन्हें बाह्य तथा आभ्यन्तर रूपों का ज्ञान था। इससे भी आगे, इन दोनों स्वरूपों में उन्हें आभ्यन्तर रूप की श्रेष्ठता स्वीकार थी। इन तर्कों का संकेत स्पष्ट है कि संस्कृत के प्रारम्भिक रूप से समालोचना का रूप स्पष्ट हो गया था। यह हो सकता है कि उस समय तक समालोचना की अलग विधा स्वीकार न की गई हो, उसका अपना रूप स्पष्ट न हो पाया हो, पर यह तो अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि उस समय काव्य की उत्कृष्टता, शब्दों का प्रयोग, ध्वनि-लक्ष्य और उद्देश्य का मापदण्ड अवश्य स्थिर हो गया था। वस्तुतः इसे ही आलोचना का मूल स्रोत स्वीकार किया जा सकता है।

आलोचना का सब से निखरा स्वरूप संस्कृत के आदिकवि वाल्मीकि में मिलता है जिन्होंने अपने प्रथम श्लोक की ही आलोचना आगे जाकर की है। वस्तुतः आलोचना को मूल विचारधारा के रूप में ही स्वीकार कर लिया गया है जो भारतीय तथा पाश्चात्य—दोनों ही समीक्षाशास्त्रियों को स्वीकार है। आदिकवि ने

पाद बद्धोऽक्षर समः तन्त्रीलय समन्वितः ।

शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥

लिख कर जिस साहित्यिक सत्य का उद्घाटन किया है, आगे चल कर उसे ही ध्वनि की संज्ञा दे दी गई है। आदिकवि ने अपने इस श्लोक से पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है कि शब्दावली में प्रस्फुट अनुभूति ही काव्य है। यहाँ अनुभूति की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है जो वस्तुतः काव्य की शक्ति है। अनुभूति का अभिव्यक्ति में परिवर्तन ही काव्य है। यही साधारणीकरण की संज्ञा, जहाँ कविहृदय का तादात्म्य वस्तु तथा परिस्थिति से होता है, काव्य की चरम सीमा के रूप में स्वीकार की गई है। वस्तुतः अनुभूति की तीव्रता, भावों के आन्तरिक आवेग के साथ शब्दावलियों में बिखर जाती है। कवि की आन्तरिक अनुभूति की अभिव्यक्ति ही काव्य की चरम सीमा है और यही कवि की सफलता है।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया है कि आदिकवि वाल्मीकि के युग में साहित्य का रूप स्पष्ट हो गया था। उसकी आत्मा, शक्ति, उपमा आदि अलंकार, तथा अनुभूति का स्थान स्वीकार किया जा चुका था। यदि आदिकवि से पहले ये सभी तत्त्व स्पष्ट नहीं हो गये थे तो कम से कम इतना तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि आदिकवि के समय में इनका रूप स्पष्ट हो गया था। साहित्यकार का जो भी स्वरूप तत्कालीन समाज में, तत्कालीन साहित्य में, मिलता है उसमें कवि होने के साथ-साथ आलोचक का रूप भी परिलक्षित होता है। ऐसा लगता है कि अनुभव और अध्ययन

दोनों का सन्तुलित रूप भावनाओं की आड़ में मचल उठता था, तभी कवि का रूप स्पष्ट हो पाता था। कहने का अर्थ है कि कवि को काव्यगत गुण-दोषों का परिपूर्ण ज्ञान आवश्यक था, वही साहित्यकार था, वही आलोचक था।

काव्य-विवेचन-परम्परा का विकास निर्धारित करते समय यह मान-सा लिया गया है कि अलंकार-विवेचन अन्य सभी विचारों एवं विवेचनों से प्राचीन सैद्धान्तिक विवेचन है। गर्गमुनि द्वारा उपमा की व्याख्या इस क्षेत्र में प्राचीनतम व्याख्या बतलाई जाती है तथा यास्क द्वारा उपमा की परिभाषा एवं उसके स्थूल भेदों पर विचार किये जाने का उल्लेख मिलता है। इससे पहले की कोई व्याख्या अथवा विवेचन प्राप्त न होने पर भी उपमा की यह व्याख्या प्रौढ़ कही जा सकती है। जिस प्रकार का विश्लेषण उस समय मिलता है, उसे अक्षरशः आज तक के आचार्य मानते चले आ रहे हैं। पाणिनि द्वारा उपमा आदि शब्दों का प्रयोग तथा कौटिल्य द्वारा सुन्दर रचनाओं की विशेषताओं का उल्लेख इसका संकेत करता है कि इसके पहले इस विषय पर बड़ा ही प्रौढ़ चिन्तन हो चुका है।

भारतीय साहित्य में अलंकारों की व्याख्या और स्पष्ट चिन्तन भरत मुनि से प्रारम्भ होता है। वस्तुतः यहाँ से उस परम्परा का सूत्रपात होता है, जिसे हम विवेचन एवं विश्लेषण कह सकते हैं। काव्य के गुणों तथा दोषों का विशद विवेचन इस परम्परा की देन है। इसके अन्तर्गत काव्य के वर्गीकरण, उसकी विधाओं का संकेत, लक्षण, अलंकार, रस, ध्वनि, गुण, शक्ति आदि का धीरे-धीरे विवेचन किया गया है। भरतमुनि से लेकर पण्डितराज तक इसी धारा का सतत प्रवाह है। इसके बीच न जाने कितने काव्य-सम्प्रदायों का जन्म होता है, न जाने कितने सिद्धान्तों का उद्भव होता है; पर कुछ ही सिद्धान्त काव्य की मूल प्रेरणा के रूप में आज हमारे सामने रह गये हैं। वस्तुतः अन्त में सभी विचारधाराओं का समन्वय हो गया है जिसका संकेत आनन्दवर्धन के 'ध्वनि-सिद्धान्त' में मिलने लगा है। समन्वय-सिद्धान्त का विकास भी पण्डितराज जगन्नाथ तक पहुँच कर अपनी पूर्णता प्राप्त कर चुका है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं ले लेना चाहिए कि भरत मुनि से प्रारम्भ होने वाली अलंकार-विवेचन की परम्परा से पहले इस पर किसी ने विचार किया ही नहीं था। इसके प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि भरत मुनि से पहले आचार्य-परम्परा चल चुकी थी और अलंकारों तथा काव्य-तत्त्वों का थोड़ा-बहुत विवेचन हो चुका था। भरत का नाट्यशास्त्र ही इस प्रौढ़ चिन्तन की ओर संकेत करता है। भरत ने अपने गुरु आचार्य तुण्ड का उल्लेख किया है, राजशेखर ने भरत के परवर्ती तथा पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है तथा घात्स्यायन ने भी अपने 'कामसूत्र' में कुछ आचार्यों का नामोल्लेख किया है। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में काव्य-विश्लेषण पर भी लिखा है। कुछ लोगों का कहना है कि भरत

के सामने केवल श्रव्यकाव्य (नाटक) की ही विवेचना करना उद्देश्य रहा है अतः उन्होंने काव्यांगों के प्रति उचित न्याय नहीं किया है—यह विचार पूर्णतः भ्रमात्मक है; क्योंकि उस समय तक नाटक और काव्य में केवल विधामात्र का अन्तर था, काव्य के गुण-दोष, लक्षण-अलंकार, अथवा शक्तियाँ एक जैसी ही थीं । उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं था । केवल वार्तालाप के अन्तर को हटा कर देखा जाय तो अधिकांश में उसी प्रकार के काव्य-तत्त्व मिलेंगे, जैसे कि काव्य-अंशों में । भरतका विवेचन अलंकार, गुणों, लक्षणों, दोषों आदि का विवेचन है, साहित्यिक मापदण्डों का निर्धारण-कार्य है, काव्य का मूल्यांकन है, न कि नाटक और काव्य का वर्गीकरण करते हुए एक सीमा-रेखा बनाने का प्रयत्न । श्रव्य और दृश्य भेद से काव्य के दो अंग माने जा चुके थे पर दोनों ही काव्य थे, इसके विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं खड़ा हो गया था । इन भेदों का संकेत पाणिनि के व्याकरण में मिलता है । भरत के समय ये भेद एक दूसरे के सहयोगी जैसे रहे हैं, और काव्य-विश्लेषण अथवा काव्य-सामान्य-चिन्तन नाट्य-शास्त्र में साथ ही होता रहा है । इन दोनों विधाओं के अतिरिक्त पाणिनि ने अलंकारों का उल्लेख नहीं किया है । अलंकारों का सब से पहले पृथक् विवेचन मिलता है भामह के काव्यालंकार में । ऐसा माना जा सकता है कि इस समय तक अलंकारों तथा काव्य का अलग विवेचन होने लगा था । इस परम्परा की पहली उपलब्ध कृति भामह का काव्यालंकार ही है । भामह के बाद भी बहुत दिनों तक सम्भवतः दृश्य और श्रव्य काव्यों का अलग-अलग विवेचन होता रहा है । क्योंकि काव्य-सामान्य पर विचार करते हुए भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने दृश्य-काव्य पर विचार नहीं किया है । कुछ दिनों तक यह परम्परा चली है, पर और आगे आने पर अलंकार-विवेचन के साथ-साथ नाट्यशास्त्र का सैद्धान्तिक चिन्तन होने लगा है । डॉ० दे ने इस परम्परा का प्रारम्भ हेमचन्द्र और निघिनाथ की रचनाओं से माना है । हेमचन्द्र की इस परम्परा में धीरे-धीरे काव्य के सामान्य, परिभाषा, लक्षण, प्रयोजन, उद्देश्य, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, ध्वनि आदि सभी का विवेचन होने लगा है । हाँ, एक प्रवृत्ति अवश्य मिलती है कि सम्प्रदाय-विशेष के मत की प्रमुखता अवश्य परिलक्षित होती है । साथ ही अन्य तत्त्वों का संकेतमात्र मिलता है । इतना ही नहीं, वरन् प्रयत्न यह भी किया गया है कि अन्य तत्त्व, सम्प्रदाय से मान्य विचारों से सम्बन्धित हैं, गौण हैं ।

नाट्यशास्त्र में काव्य की परिभाषा देने का प्रयत्न नहीं किया गया है वरन् उसे टाल जाने की बात ही सही मालूम होती है । यह भी हो सकता है कि भरतमुनि से पहले ही दृश्य और श्रव्य काव्यों की सन्तुलित व्याख्या की जा चुकी हो और भरत के लिए यह आवश्यक न रह गया हो कि वे विषय से दूर होकर काव्य-सामान्य की

वर्चा करें। प्रसंगवश संकेतमात्र ही विषयानुकूल मालूम होता है। स्थान-स्थान पर मोटे तौर पर काव्य के गुणों की ओर संकेत भी नाट्यशास्त्र में मिलता है। नाट्यशास्त्र में काव्य के छत्तीस गुणों का उल्लेख किया गया है। कुछ लोगों का कहना है कि रस-विधान का संकेत करते हुए भरत-मुनि ने काव्य-सामान्य की अपेक्षा नाटक का ही विवेचन किया है। यह सही है कि नाट्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त का विश्लेषण किया है पर उसे काव्य के प्रमुख तत्त्व का रूप ध्वनिकार आनन्दवर्धन द्वारा दिया गया है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन से पहले ध्वनि को काव्य की आत्मा माना जा चुका था, ध्वनि का अपना स्थान काव्य में निश्चित हो चुका था। स्वयम् आनन्दवर्धन इस तत्त्व को स्वीकार करते हैं।

समीक्षा-क्षेत्र में सबसे संयत विवेचन अग्निपुराण में मिलता है पर अग्नि-पुराण का समय निश्चित नहीं कहा जा सकता। जैसी जनश्रुति है कि पुराणों की रचना वेदव्यास द्वारा हुई है, निश्चय ही अग्निपुराण इन आचार्यों से पहले की रचना है और इसलिए इस रचना को हम किसी वर्ग अथवा सम्प्रदाय में नहीं रख सकते। अग्निपुराण में काव्य के अनेक तत्त्वों का समाहार किया गया है। काव्य की पहली परिभाषा भी यहीं मिलती है, जिसके अनुसार काव्य अभीष्ट अर्थ की सक्षम व्यक्त पदावली मात्र है। यद्यपि यह परिभाषा अब अपूर्ण कही जा सकती है पर इस ओर प्रथम प्रयास होने के कारण यह अपना महत्त्व रखती है। इस परिभाषा का धीरे-धीरे परिष्कार होता गया और काव्य-सम्बन्धी अनेक तत्त्वों का स्वरूप स्पष्ट किया गया। भामह ने शब्द और अर्थ दोनों के सहज सामंजस्य पर बल दिया है। शब्द और अर्थ दोनों का अस्तित्व स्वीकार करते हुए आचार्य भामह ने वक्रोक्ति पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है। उनके अनुसार वक्रोक्ति में ही काव्य के अन्य सभी गुण हैं। दण्डी ने इष्टार्थ को व्यक्त करने वाली पदावली को ही काव्य मान लिया है जिसका स्पष्ट संकेत शब्द का अस्तित्व स्वीकार करने से है। रुद्रट ने शब्द को ही काव्य मानने का खुला विरोध किया है। वामन ने विवेचन और विश्लेषण के माध्यम से काव्य के स्वरूप का परिचय दिया है। सभी मतों के मान्य तत्त्वों को स्वीकार करते हुए उन्हें एक स्पष्ट एवं संश्लिष्ट पृष्ठभूमि पर रखने का श्रेय अवश्य ही वामन को है। अलंकारसूत्र में वामन ने काव्य की आवश्यकता एवं स्वरूप का विचार करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि काव्य को गुणों से पूर्ण तथा दोषों से शून्य होना चाहिए। इस समय तक की काव्य-चिन्तन की विकासपरम्परा को देखने से भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य वामन में साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट कर देने की एक उत्कट आकांक्षा थी। भरतमुनि से लेकर वामन तक की काव्य-चिन्तन-विषयक प्रवृत्ति दिन-प्रति-दिन प्रगतिशील रही है—अध्ययन से इसका स्पष्ट संकेत मिलता है। साथ ही

यह भी कहा जा सकता है कि अब तक की समीक्षा-प्रवृत्ति एक ही ढंग की रही है। अग्निपुराण में अलंकार, गुण, रस आदि का विवेचन किया गया, पर परवर्ती आचार्यों ने एक-एक तत्त्व की पृथक्-पृथक् प्रधानता स्वीकार करते हुए अपने सम्प्रदायों एवं सिद्धान्तों का विवेचन किया। भामह ने शब्द-अर्थ के साथ वक्रोक्ति के माध्यम से अलंकारों के प्रति रुचि प्रकट की, दण्डी ने गुणों की प्रधानता स्वीकार की। इससे स्पष्ट है कि जिस विचारधारा का प्रारम्भ अग्निपुराण में होता है उसी का आंशिक विकास सम्प्रदायों द्वारा हुआ है पर विकास की प्रवृत्ति एक ही प्रकार की है। सभी ने काव्य के शरीर का विवेचन किया है; काव्य की आत्मा का प्रश्न अपेक्षाकृत इन आचार्यों से अछूता रह गया है—यह स्पष्ट है। काव्य की आत्मा और शरीर, दो अलग तत्त्व हैं, इसका संकेत पहली बार आचार्य वामन द्वारा होता है। 'रस' का कोई भी स्वरूप इन दिनों तक स्पष्ट नहीं हो पाया था। रुद्रट और दण्डी ने इस का संकेतमात्र किया है। दण्डी ने अलंकारों का रस का आकर्षक बतलाया है।

समीक्षा का यह काल प्रधानतः अलंकारों का युग कहा जा सकता है। वस्तुतः यह काल अस्पष्ट, असंयत एवं अविकसित चिन्तन का समय रहा है। इस काल की सम्पूर्ण विशेषता इसी में सन्निहित है कि इन्हीं दिनों साहित्य के विविध पक्षों पर विचार प्रारम्भ हो गया जिसके परिणामस्वरूप काव्य-समीक्षा का संयत और प्रौढ़ रूप स्थिर हो सका है।

आचार्यों के इस युग के पश्चात् ध्वनिकार आनन्दवर्धन का युग आता है। आनन्दवर्धन के विषय में दो धारणाएँ हैं। कुछ लोगों का मत है कि वृत्तिकार आनन्दवर्धन और कारिकाकार एक ही व्यक्ति हैं और कुछ लोग इन्हें दो व्यक्ति मानते हैं। दो व्यक्ति मानने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, केवल डॉ० दास गुप्ता जैसे लोगों का व्यक्तिगत मत एवं तर्क है। जहाँ तक लिखित प्रमाण उपलब्ध हैं, उनके आधार पर ये दोनों व्यक्तित्व आनन्दवर्धन ही हैं, कोई अन्य नहीं। इन्हें ध्वनिकार भी कहा गया है। संस्कृत-साहित्य के समीक्षा-क्षेत्र में इतना बड़ा परिवर्तन आनन्दवर्धन से पहले कभी नहीं आया था। वस्तुतः ध्वनिकार का व्यक्तित्व इतना क्रान्तिकारी रहा है कि परम्परागत समस्त धारणाओं, विचारों एवं सिद्धान्तों को एक नये सामंजस्य के सचि में ढालने में उसे किसी प्रकार की असुविधा नहीं हुई है। ध्वन्यालोक में ध्वनिकार ने काव्य की परिभाषा न कर उसे असीमित एवं अनुभूति का विषय मान कर छोड़ दिया है। काव्य कभी परिभाषा की सीमा में नहीं आ सकता, वह कारणमात्र हो सकता है, कार्य स्वयं नहीं बन सकता। शब्द और अर्थ के माध्यम से हार्दिक अनुभूति का जागरण ही काव्य की शक्ति और आत्मा है। काव्य द्वारा प्राप्त आनन्द वस्तुतः व्यंग्य है, वह स्वयं अभिधेय नहीं हो सकता। इसी कारण आनन्दवर्धन ने ध्वनि को ही

काव्य की आत्मा माना है। ध्वनि का अस्तित्व स्वीकार करते हुए ध्वनिकार ने अलंकारों, गुणों, दोषों, तथा रीतियों आदि की उपादेयता भी स्वीकार की है। काव्य की आत्मा तो वस्तुतः ध्वनि है, रस है। रसहीन काव्य में अन्य सभी तत्त्व बेकार हो जाते हैं। ध्वनिकार कवि और काव्य की सफलता इसमें मानता है कि कवि की अनुभूति शब्द के माध्यम से पाठक के हृदय में तद्रूप अनुभूति का संचार कर सके। उसका निष्कर्ष यह है कवि की अनुभूति काव्य का उपादान है और सहृदय की रसानुभूति उसका प्राप्तव्य। ध्वनिकार ने रस और ध्वनि में भी अन्तर कर दिया है। उसके अनुसार रसध्वनि काव्य की आत्मा है, रस नहीं।

आनन्दवर्धन के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व तथा रस-सिद्धान्त का इतने अधिक प्रचलन एवं प्रभाव का परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन अन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। यह वस्तुतः ध्वनिकार की सामंजस्य-प्रवृत्ति की सबसे बड़ी विजय है। आनन्दवर्धन के मत का विरोध खुले रूप में महिमभट्ट और कुन्तक ने किया था। क्षेमेन्द्र जैसे कुछ आचार्यों ने 'औचित्य' की ही प्रधानता स्वीकार की है और इस 'औचित्य' को काव्य की आत्मा का रूप भी दे दिया है। लोचन-व्याख्या में अभिनवगुप्त ने इन विचारों को रस और औचित्य का क्रमानुसार स्वरूप ग्रहण कर ध्वनिकार के मत का प्रतिपादन किया है। इसी समय हमें कुन्तक के मत का विचार कर लेना चाहिए। अपनी काव्य-विवेचना में कुन्तक ने अनेक काव्य-तत्त्वों की परिभाषाएँ स्थिर की हैं और साथ ही वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। वस्तुतः भामह ने भी वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया था। कुन्तक ने उसी सिद्धान्त को और भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भामह की अपेक्षा कुन्तक ने वक्रोक्ति पर अधिक बल दिया है। अन्य आचार्यों की अपेक्षा कुन्तक अपने विचारों में अधिक सुलभे हुए हैं। वस्तुतः सभी प्राचीन आचार्यों ने जिस आनन्द या आह्लाद की चर्चा की है, उसे साहित्यिक शब्दावली में 'साधारणकीरण' कहते हैं। काव्यानन्द को लोकोत्तर वस्तु मानते हुए कुन्तक ने उसे 'रसानुभूति' की संज्ञा दी है। कुन्तक के अनुसार काव्य में वक्रता, कवि-व्यापार और आह्लाद होना चाहिए। अन्तिम तत्त्व ही रस की अनुभूति है। वक्रता में शब्द और अर्थ की प्रधानता स्वीकार की गयी है। यह सही है कि ध्वनिकार के विवेचन एवं रस-सिद्धान्त के सामने कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त निर्बल प्रतीत होने लगा, पर इतना तो स्वीकार ही किया जा सकता है कि कुन्तक ने जिन काव्य-तत्त्वों का स्वरूप-निर्धारण या विवेचन किया है, आगे आने वाले आचार्यों ने उसे किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। कुन्तक का इतना प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है कि फिर किसी आचार्य ने अभिधा अथवा साधारण ढंग की बात को काव्य स्वीकार नहीं किया है। यही कुन्तक की सबसे बड़ी सफलता है जिसके परिणामस्वरूप संस्कृत के काव्य-सामान्य का मापदण्ड ही बदल गया है।

आनन्दवर्धन से कुन्तक तक जो भी नियम, बन गये काव्य-सामान्य-विवेचन अथवा काव्य की आत्मा के विषय में निष्कर्ष ले लिये गये, वे ही वस्तुतः आज तक चले आ रहे हैं। हमारी आलोचना का शास्त्रीय पक्ष इस युग में पूर्णतः स्पष्ट हो गया था, चारों ओर से सीमाएँ बन चुकी थीं, जिसमें केवल प्रतिभासम्पन्न कवियों के लिए ही मार्ग रह गया था। प्रयोग की इच्छा से आये हुए किसी कवि के लिए तनिक भी स्थान नहीं था। यह संस्कृत-साहित्य के शास्त्रीय विवेचन का प्रौढ़ युग कहा जा सकता है। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर आगे के आचार्यों ने प्रौढ़ चिन्तन प्रस्तुत किया है। सच तो यह है कि इस युग की परम्परा का सतत विकास हुआ है। प्रायः सभी आचार्यों ने एक ही रास्ता अपनाया है, लक्षण और परिभाषा करने का। अन्य परवर्ती आचार्यों में मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ से, साहित्य-समीक्षाशास्त्र को अपेक्षाकृत अधिक गति मिल पायी है।

आचार्य मम्मट से पहले लक्षणों पर बहुत बल नहीं दिया जाता रहा है। भोज का 'सरस्वतीकण्ठाभरण' इसका प्रमाण है, पर यहाँ भी भोज ने अपने काव्य-सम्बन्धी विचारों का अस्पष्ट संकेत अवश्य कर दिया है। हेमचन्द्र, निधिनाथ आदि ने तो काव्यप्रकाश का ही रास्ता अपनाया है। आचार्य विश्वनाथ ने अपने विश्लेषण के लिए 'कारिका' का आश्रय लिया है। इन तीनों आचार्यों में मम्मट और विश्वनाथ का काव्य-विवेचन किसी भी प्रकार नवीन नहीं माना जा सकता, पर पण्डितराज की सूझें मौलिक कही जा सकती हैं। जो कुछ भी हो, पर सामूहिक रूप से यह कहा जा सकता है कि मम्मट, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ के हाथों में काव्य-विवेचन की विचार-धारा में परिष्करण हुआ है तथा समाज के सामने साहित्य का रूप पूर्वापेक्षया अधिक स्पष्ट हो सका है।

इन तीनों आचार्यों में सबसे पहले मम्मट का प्रादुर्भाव होता है। वे अपने काव्यप्रकाश में समन्वयवादी हैं। वस्तुतः सामंजस्य की उस विचारधारा का मम्मट में विकासमात्र हुआ है जिसका प्रारम्भ ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने किया था। इनके अनुसार काव्य 'तद्दोषी शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' है। इनके अनुसार गुण रस का धर्म है। आगे आने वाले आचार्यों ने मम्मट के मत की कड़ी आलोचना की है। आचार्य विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए उनकी कमियों की ओर संकेत करते हुए, अपने मत का प्रतिपादन 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कह कर किया है। वस्तुतः यह परिभाषा नई नहीं है क्योंकि इसके पीछे शुद्धोदिनी कारिका का आधार है। आचार्य विश्वनाथ ने रस की प्रधानता स्वीकार की है और उनके अनुसार काव्य में वे स्थान, जो रसहीन हैं तथा वस्तु और अलंकारों से बोझिल हो गये हैं, काव्य की श्रेणी में नहीं आ सकते। आचार्य विश्वनाथ की यह

सीमा अपेक्षाकृत अधिक सीमित हो गई हैं। पूर्ववर्ती कोई भी आचार्य इनके सिद्धान्तों के सामने नहीं ठहरता है। ध्वनिकार ने भी रसानुभूति का संकेत किया था पर उसके साथ ही उसे अन्य तत्त्व भी स्वीकार थे। आचार्य विश्वनाथ ने केवल रस को ही काव्य की आत्मा मान लिया है। रस को भी शास्त्रीय रूढ़ परिभाषा में न बाँध कर 'रस्यते इति रसः' से व्याख्या करते हुए, उसकी व्यापकता की ओर संकेत किया गया है।

ऊपर बताया जा चुका है कि न तो आचार्य मम्मट की परिभाषा मौलिक रही है और न आचार्य विश्वनाथ की। सच तो यह है कि अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की आलोचना करते हुए इन लोगों ने अपने काव्य-मत का प्रतिपादनमात्र किया है। शब्दों में बल था अतः समीक्षा-क्षेत्र में टिक गये। इन तीनों आचार्यों में, जिनका उल्लेख अभी ऊपर हो चुका है, पण्डितराज जगन्नाथ के लक्षण नवीन एवं मौलिक अवश्य है; परन्तु परम्परा से चली आई विचारधारा को, जिसके आधार पर 'शब्द और अर्थ' दोनों को ही काव्य माना जाता था, पण्डितराज ने अस्वीकार कर दिया। उनके अनुसार केवल शब्द ही काव्य है। गुरु और अलंकारों के आधार पर काव्य की कोई परिभाषा नहीं की जा सकती क्योंकि ये दोनों तत्त्व ही अनिश्चित हैं और अनिश्चित सत्य पर भाषा नहीं टिक सकती। पण्डितराज ने शब्द की प्रधानता अवश्य स्वीकार की है, पर अर्थ से परे किसी शब्द का कोई अस्तित्व ही नहीं होता, इसे भी वे स्वीकार करते हैं। किसी भी शब्द के पीछे परम्परा से चला आया उसका मनोविज्ञान होता है, उसी के समानान्तर अर्थ-व्यवस्था भी होती है। ऐसी दशा में शब्द की अपनी कोई पृथक् सत्ता ही नहीं होती और न अर्थ ही अकेला अपना कोई अस्तित्व रखता है। शब्द में अर्थ निहित होता है और शब्द किसी न किसी भाव का प्रतीक होता है। यही भाव-रूप वस्तुतः अर्थ है, इसके बिना किसी भी शब्द का कुछ भी महत्त्व नहीं है। पण्डितराज ने शब्द को शास्त्रीय रीति में स्वीकार कर लिया है। उन जैसे आचार्य द्वारा अर्थ की उपेक्षा की बात मन को बहुत न्यायसंगत प्रतीत नहीं होती। पण्डितराज की परिभाषा से इतना तो अवश्य हो गया है कि 'रमणीयता' द्वारा परम्परागत समस्त साम्प्रदायिक विवाद समाप्त हो गये हैं। उनके विचारों में काव्य का वास्तविक स्वरूप तो अलौकिक आनन्द है जिसे 'रमणीयता' द्वारा व्यंजित किया है। समन्वय एवं सामंजस्य-प्रवृत्ति-प्रधान यह परिभाषा सर्वमान्य हो सकी है, यद्यपि साहित्यिक मनीषियों ने मम्मट के काव्य-लक्षणों को अधिक निर्दोष बताया है।

इस प्रकार संस्कृत-समीक्षा-साहित्य एवं सिद्धान्त-निरूपण, यदि सामूहिक रूप से देखा जाय तो, भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक साहित्यिक चिन्तन का युग है। प्रत्येक आचार्य ने अपने मत की प्रधानता के लिए सतत प्रयास किया है जिससे तर्कों की अच्छी पहुँच एवं दृष्टिकोण का संयत होना परिलक्षित होता है।

काव्य-चिन्तन तथा काव्य की मूल-भूत प्रेरणाओं का विवेचन भारतीय आचार्यों ने जितना किया है, समस्त विश्व के लिए आज भी चिन्तन की एक सीमा है। इन आचार्यों ने काव्य को मनोरंजन की सामग्री न मान कर एक अलौकिक आनन्द का सृजन करने वाला बताया है और कवि को स्रष्टा का स्वरूप दिया है। इस रूप में, काव्य-जगत् वस्तु जगत् से परे की वस्तु है जिसकी परिधि केवल आनन्ददायिनी है। सुख और दुःख की सापेक्षता इसकी सीमा में नहीं है। भावनागत अनुभूति का अन्वेषण ही इसका ध्येय है, परिष्करण कार्य है और उसका विकास ही उसकी सृष्टि है। शब्द और अर्थ काव्य की सामग्री हैं। उसी की व्यवस्था और क्रम वस्तु है, अनुभूति की क्षमता शक्ति है और आह्लाद ही आत्मा है। इस आह्लाद के सतत विकास के लिए शब्दों और अर्थों में एक शक्ति चाहिए जो व्यंजना द्वारा प्रस्तुत की जा सकती है। ध्वनि-सिद्धान्त का यही मूल मंत्र है जिसके आधार पर ध्वनि को काव्य की आत्मा माना गया है। भरत का रस-सिद्धान्त भी इसी चिन्तन का परिणाम है।

इन आचार्यों द्वारा संस्कृत के समीक्षा-साहित्य का क्रमिक विकास भी हुआ है। शब्द और अर्थ के सहज संयोग को काव्य मानने से लेकर रस, गुण, अलंकार, शक्ति, वक्रोक्ति आदि का गहन विवेचन इसी क्रमिक विकास के विराम-स्थल हैं। इन्हीं के साथ काव्य के बाह्य एवं आभ्यन्तर स्वरूपों को स्पष्ट किया गया है। सम्पूर्ण समीक्षा-साहित्य पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका प्रारम्भ भरत के रस-सिद्धान्त से होता है और इस विवेचन में ही इसकी पूर्णता हो जाती है। जिस रस-सिद्धान्त का प्रारम्भ भरत का नाट्यशास्त्र करता है, किसी न किसी रूप में सभी आचार्यों द्वारा मान्य होकर पण्डितराज द्वारा काव्य की आत्मा के रूप में ही पुनः रस को मान्यता मिलती है। वस्तुतः साहित्य-समीक्षा को इस सिद्धान्त का सतत विवेचन मात्र ही कहा जा सकता है आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि और औचित्य का प्रतिपादन हुआ है और उसकी पराकाष्ठा पण्डितराज की 'रमणीयता' द्वारा व्यंजित हुई है। संक्षेप में समस्त समीक्षा-साहित्य के विषय में कहा जा सकता है कि काव्य-विवेचन एवं लक्षण के साथ-साथ इन आचार्यों ने काव्य के कारण, प्रयोजन तथा प्रतिभा का विवेचन प्रस्तुत किया है। सभी ने किसी न किसी रूप में इन तत्त्वों को स्वीकार किया है।

इन्हीं के साथ संस्कृत-समीक्षा के विभिन्न सम्प्रदायों पर विचार कर लेना अधिक समीचीन होगा। वस्तुतः सम्प्रदायों का विकास ही समीक्षा-साहित्य का इतिहास है। पहले संकेत किया जा चुका है कि संस्कृतसाहित्य में इस ओर सर्वप्रथम एवं संयत प्रयास भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। इसके पहले रस की विवेचना की जा चुकी थी, इसका संकेत भी भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। क्योंकि भरत ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का जल्लेख ग्रन्थस्थान किया है। भरत ने यह

रस-विवेचन मूलतः नाटकों के सम्बन्ध में किया है—कुछ लोगों का ऐसा मत है। यदि इसे स्वीकार भी कर लिया जाय तो जैसा पहले बतलाया जा चुका है कि विधा-मात्र के अन्तर को अलग रख कर काव्य और नाटक की मूल-भूत शक्तियों एवं प्रेरणाओं में किसी प्रकार का अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। भरत का यह उद्देश्य, कि नाटक का ध्येय 'रस' का अनुभव करना है, आगे चल कर सम्पूर्ण साहित्य के लिए स्वीकार कर लिया गया।

रस-निष्पत्ति के लिए भरत ने विभाव, अनुभव और संचारी का संयोग होना आवश्यक माना है। काव्य का प्रभाव भावात्मक होता है। हमारी भीतरी सुप्त मनो-वृत्तियों पर जब काव्य-परिस्थितियों का आघात पहुँचता है तो वे सजग हो उठती हैं। परिस्थितिगत ये आघात ही जब लौकिक 'से' लोकोत्तर हो, काव्य के माध्यम से भावनाओं को अनुभूति का रूप देते हैं तब रसानुभूति होती है। वस्तुतः परिस्थिति की आनन्दमयी संकल्पनात्मक अनुभूति ही रस कहलाती है। भरत के 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र को लेकर रस की अनुभूति-विषयक अनेक सिद्धान्त उठ खड़े हुए हैं। इतना ही नहीं वरन् इसी सिद्धान्त को लेकर रस काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया गया। इस मत के परिपोषकों के विचारों में काव्य के लिए रस-निष्पत्ति आवश्यक थी। रस-विहीन वाक्यांश काव्य कहे जाने की क्षमता नहीं रखता। किसी भी कृति को पढ़ने या देखने की क्रियामात्र से पाठक या दर्शक के मन में तत्समानान्तर संस्कार जग पड़ते हैं। इन्हीं संस्कारों में जब वह अपने-आप को खो देता है तब रस की पूर्णता होती है। इसलिए कलाकार की श्रेष्ठता अपनी कृति को रसांगों से परिपूर्ण करने में है।

इस सम्प्रदाय का प्रमुख उद्देश्य यह विवेचन करना रहा है कि रस का काव्य में क्या स्थान है? हम यह जानते हैं किसी भी शब्द का मनोविज्ञान होता है। शब्द उच्चारणमात्र से श्रोता के मस्तिष्क में एक प्रतिक्रिया होती है। वक्ता के मुख से

भावना का संस्कार म सजा देता है। भावना का संस्कार म सजा देना ही रस की क्रिया कही जाती है और संस्कारों का प्रभाव रस का प्रभाव होता है। किसी भी काव्य-कृति की सफलता इसी में है कि किसी भी पाठक या दर्शक में ठीक उसी प्रकार की और उतनी ही शक्तिशालिनी प्रतिक्रिया हो जितनी कि कवि में साहित्य-निर्माण के समय रही है। यदि पाठक किसी साहित्यिक कृति को पढ़ कर उससे सामंजस्य स्थापित नहीं कर लेता, या अपने-आपको भुला नहीं देता, अपनी वास्तविकता पर हँस नहीं पड़ता, तो यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि भावना में उद्बलित करने की शक्ति

धूरी नहीं है। पाठक में समान संस्कारों का उद्भव एवं विकास ही साधारणीकरण कहलाता है।

साहित्यकार स्रष्टा होता है। वह अपनी भावनाओं के अनुकूल एक संसार की सृष्टि करता है। उस संसार में उसके प्राणी होते हैं, उनके अनुचर होते हैं, उसके स्वर में स्वर मिला कर बोलने वाले होते हैं। वह उन्हें मनोविज्ञान की शक्ति देता है, सजीव बनाता है, गति देता है और उनका पथ-निर्देशन करता है। इस प्रकार सारी की सारी शक्ति मनोविज्ञान पर आधारित हो जाती है। इन विशिष्ट मनोवैज्ञानिक भावनाओं को ही वस्तुतः रस की संज्ञा दी जाती है। ये विशिष्ट भावनाएँ रागमयी भी हो सकती हैं और द्वेषपूर्ण भी। इन्हीं दो भावनाओं की वस्तुगत विशेषता को आधार मानते हुए कुछ आचार्यों ने रसों का वर्गीकरण किया है जिसे हम इच्छामूलक आधार कह कर स्वीकार करते हैं। कुछ आचार्यों ने अपनी साधनसम्पन्नता के अनुकूल रसों का वर्गीकरण योग-सिद्धान्तों से भी किया है। उन्होंने रसों का सम्बन्ध ज्ञान, भाव और क्रिया से स्थापित करने का प्रयत्न किया है। रस की महत्ता स्वीकार करने वाले अन्य आचार्यों ने रस को त्रिगुणात्मक प्रवृत्तियों (रज, तम और सत्त्व) का प्रतीक बतलाया है। इस प्रकार रससम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने-अपने अनुसार इच्छा, योग और त्रिगुणात्मक प्रवृत्तियों का आधार लेते हुए रस की प्रधानता, उसे काव्यात्मा मान कर की है।

रस-सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप में सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। भरत मुनि ने संयत ढंग से रस-निष्पत्ति की बात सामने रखी। आचार्य भामह ने रस के विषय में अपने विचार प्रकट नहीं किये हैं पर रसवत् अलंकार के विवेचन से यह स्पष्ट है कि रस उपेक्षित नहीं थे। साथ ही महाकाव्य की विशेषताओं की ओर ध्यान दिलाते समय उन्होंने यह भी कहा है कि महाकाव्य में सभी रस आने चाहिए। दण्डी ने भामह के शब्दों के साथ चलते हुए, रसों को माधुर्य आदि गुणों के साथ मिला लिया है। आचार्य वामन के सामने रस-सिद्धान्त बड़े ही स्पष्ट रहे हैं, पर उन्होंने रस को पृथक् स्थान न देकर रीति के गुणों में से अर्थ गुण मान लिया है। उनके अनुसार रस, रीति का एक अंगमात्र है। अभिनवगुप्त के अनुसार प्रतीति को व्यंजना में सम्मिलित कर लिया गया है और अभिव्यक्ति से ही रस की प्रतीति होती है। उनका मत है कि मनुष्य के हृदय में वासनारूप में स्थायीभाव निहित रहता है। किसी लौकिक कारण से वह भाव उदीप्त हो जाता है। इन्हीं भावों का विकसित एवं स्थायी रूप रस कहलाता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भगनावस्था में चित् कह कर रस को आत्मा का स्वरूप दिया है। इससे पहले आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' कह कर रस की प्रधानता पर बल दिया है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि भरत मुनि से लेकर पण्डितराज तक, सभी ने, किसी-न-किसी प्रकार रस को स्वीकार किया है।

सच तो यह है कि जब तक काव्य द्वारा वास्तविक रस की निष्पत्ति नहीं होती, उसे काव्य मानने में संकोच होता है। रस-सिद्धान्त में प्रधानता प्रदान करने वाला यह सम्प्रदाय रस को काव्य की आत्मा मानता है।

सौन्दर्योपासना की प्रवृत्ति प्राणीमात्र में है। यह प्रवृत्ति जितनी ही परिष्कृत होती है सौन्दर्य की अनुभूति उतनी ही गहनतम होती है। इस अनुभूति के माध्यम से एक मानसिक प्रतिक्रिया होती है, जिसे हम सन्तुष्टि के समकक्ष रख सकते हैं। उसके परिणामस्वरूप मन को शान्ति मिलती है। वस्तुतः यही आनन्द रस की सच्ची अनुभूति है। आनन्द का सम्बन्ध मन से होने के कारण ही रस को काव्य की आत्मा कहा गया है।

रस और अलंकार संस्कृत-समीक्षाशास्त्र के दो प्रधान तत्त्व हैं। वस्तुतः अलंकार-सिद्धान्त भरतमुनि के रस-सिद्धान्त से पुराना बताया जाता है और इसका प्रमाण भी भरत के नाट्यशास्त्र में ही मिल जाता है। भरत ने चार अलंकारों का उल्लेख किया है, उपमा, दीपक, रूपक और यमक। एक मत इस प्रकार का भी है कि अलंकार या रस दोनों में कौन प्राचीन है, कहा नहीं जा सकता। काव्य की आत्मा का विवेचन करते समय आचार्यों ने नामकरण मात्र किया है। वेदों और आर्यसाहित्य में अलंकारों के सुन्दर प्रयोग मिलते हैं; इसलिए ही यह नहीं मान लेना चाहिए कि ऋषियों ने सिद्धान्ततः अलंकारों का प्रयोग किया है। भाषा से अभिन्न होने के कारण अलंकारों का प्रयोग स्वभावजन्य कहा जा सकता है। यदि हम इसे न भी मानें कि वेदों में अलंकारों का रूप स्थिर हो गया था तब भी हम यह अवश्य स्वीकार करेंगे कि अलंकारों का संयत विवेचन निरुक्त आदि के समय में होने लगा था क्योंकि परवर्ती युग में गार्ग, यास्क आदि ने उपमा पर विचार प्रकट किये हैं। फिर भी हमें एक परम्परा के रूप में अलंकारों का विवेचन आचार्य भामह के समय से मिलता है। इस परम्परा में भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज आदि आते हैं।

भामह ने अलंकार को बहुत ही व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है जिसका प्रसार इतना हुआ कि रस, गुण आदि सभी अलंकारों में ही समा गये। वस्तुतः इन आचार्यों के विवेचन से अलंकार का कोई रूप स्थिर नहीं होता। इस कार्य को परवर्ती आचार्यों ने किया है। सभी वस्तुओं का विकास होता गया और ध्वनिकार के समय आकर उन्हें निश्चित परिभाषाओं में बाँध दिया गया। भामह आदि आचार्यों के सामने शब्द और अर्थ का ही विचार प्रधान था जिसे निश्चय ही अलंकारों का बाह्य रूप कहा जा सकता है। आगे चल कर गुणों और अलंकारों में भेद करना कठिन होने लगा जिसका स्पष्टीकरण काव्य की आत्मा के विवेचन से किया गया। बहिरंग और अन्तरंग की तुलनामात्र से ही अलंकारों और गुणों का रूप अलग हो पाया। वस्तुतः यह सम्प्रदाय, अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानने लगा है।

संस्कृत-समीक्षाशास्त्र में अलंकारों के स्वरूप पर बड़ा ही विशद विवेचन हुआ है। सामान्यतः उसे काव्य का व्यापक धर्म मानने से लेकर उक्ति-वैचित्र्य के किसी भी स्वरूप को अलंकार की संज्ञा दी गई। भामह ने वक्रोक्ति को ही अलंकार का सब कुछ स्वीकार किया है। इन सभी विवेचनों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अलंकार-शब्द अपने मूल अर्थ की अपेक्षा व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है। अलंकार सम्प्रदाय के इन आचार्यों के अनुसार वस्तु अर्थ की अपेक्षा सांकेतिक अर्थ ग्रहण करना अपेक्षित है। आनन्दवर्द्धन से पहले अलंकारों के विषय में जो भी विवेचन मिलता है, वह अपूर्ण सा है। आनन्दवर्द्धन के समय जब काव्य की आत्मा और शरीर का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है तब यह भी स्पष्ट हो गया कि अलंकारों का सम्बन्ध काव्य के बाह्य तत्त्व से है। उन्हें काव्य-शरीर का अभिन्न अंग भी स्वीकार किया गया है।

अलंकार के अपने शब्दगत अर्थ के अनुसार उसे आभूषण का स्थान लेना चाहिए। पर इसे 'काव्य की आत्मा' कह कर विवेचन को और भी उलझा दिया गया है। उनके अनुसार रस तो अलंकारों की बाह्य प्रकृति है, अभिव्यक्तिमात्र है। यहाँ तक कि रस को, अभिव्यक्ति को, या किसी भी प्रकार के लोकोत्तर आनन्द को अलंकारों का सहायक बताया गया है। जैसा हम देखते हैं कि अलंकार बाह्य उपादानों में आते हैं, आन्तरिक सौन्दर्य-प्रतिष्ठापन के उपादानों में इनका प्रयोग नहीं होता। ठीक उसी प्रकार काव्य में भी इनका सम्बन्ध बाह्य सौन्दर्य से है, आन्तरिक सौन्दर्य से नहीं; और बाह्य सौन्दर्य पर आधारित अलंकार को आत्मा के रूप में ग्रहण करना बहुत न्यायसंगत नहीं लगता क्योंकि आत्मा में एक शक्ति होती है, दूसरे को परिचालित एवं प्रभावित करने को आत्मा की गति भावना के समकक्ष होती है, द्रवत्व उसका गुण है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अलंकारों का प्रयोग हम तब करते हैं जब अपनी वास्तविक आन्तरिक भावनाओं को स्पष्ट करने में असमर्थ होते हैं। कल्पना की कोमल क्रोड में हम तब जाते हैं जब हमारे हाथों से यथार्थ का पतवार छूटने पर आता है। भावना की परिस्थितिजन्य अनुभूति केवल कल्पना से ही नहीं हो सकती। कल्पना के माध्यम से हम योजना करते हैं जिसमें भावना का प्रसार होता है। यदि भावना न हो तो कल्पना की अनुभूति पूर्णतः असम्भव है। अलंकार मूलतः इन्हीं काल्पनिक तत्त्वों के प्रतीकमात्र हैं।

संस्कृत-समीक्षा के प्राचीनतम उदाहरण अलंकार ही हैं। प्रारम्भ से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक, सभी आचार्यों ने, अलंकारों पर विचार किया है और समय, परिस्थिति तथा प्रयोगों के अनुसार संस्कृत आचार्य अलंकारों की संख्या बढ़ाते गये हैं, यहाँ तक कि पण्डितराज के समय में इनकी संख्या १६३ हो गई है। भारतीय आचार्यों ने जिस तन्मयता एवं गहन-चिन्तन से अलंकारों का विवेचन किया है, विश्व

का कोई भी साहित्य उसकी तुलना में टिक नहीं सकता। ईसा की आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी का युग अलंकारों के विवेचन की दृष्टि से बड़े महत्त्व का समय माना जाता है। वस्तुतः यह युग साहित्यशास्त्र की दृष्टि से स्वर्णयुग कहा जाना चाहिए। इन आचार्यों ने अलंकारों के वर्गीकरण के लिए कई आधार स्वीकृत किये हैं। पर इन सभी वर्गीकरणों में शब्द, अर्थ तथा उभय अलंकारों का वर्गीकरण सर्वमान्य वर्गीकरण है।

संस्कृत-आचार्यों में इस बात पर अधिक मत-वैभिन्न्य नहीं है कि अलंकार, काव्य की आत्मा न सही तो आवश्यक तत्त्व तो अवश्य हैं; पर काव्य में अलंकारों का महत्त्व बड़े ही विवाद का प्रश्न है। काव्य की आत्मा के रूप में अलंकार को स्वीकार करने के ध्येय से ही भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने रस को भी अलंकारों में ही मिला लेने का प्रयत्न किया था। रस तथा ध्वनिसिद्धान्त को स्वीकार करने वाले आचार्यों ने अलंकार को गौण तत्त्व माना है। ध्वनिकार के समय में सभी विवाद धीरे-धीरे मिट से गये और सभी में एक सामंजस्य स्थापित हो गया है। इस समय ही रस को काव्य की आत्मा सर्वसम्मत से स्वीकार कर लिया गया है। इस सिद्धान्त के स्वीकार कर लिये जाने पर भी अलंकार का महत्त्व कम नहीं हुआ है। उसकी अनिवार्यता धीरे-धीरे सर्वमान्य होती गई है। ध्वनिकार की दृष्टि में अलंकार-ध्वनि को काव्य की आत्मा मान कर अलंकारों की प्रधानता स्वीकार की जाती रही है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रस की मान्यता स्वीकृत हो जाने पर भी यह विवाद चलता ही रहा कि अलंकार काव्य का अनिवार्य ही नहीं वरन् परम आवश्यक तत्त्व है।

ज्यों-ज्यों काव्यविषयक चेतना बढ़ती गयी, काव्य-विवेचन भी प्रगति पाता गया। मतवैभिन्न्य समाज की गत्यात्मक शक्ति है अतः उसे गतिशील होने के लिए सिद्धान्त और विचारों की विभिन्नता आवश्यक है। रस और अलंकार-सिद्धान्तों में ही समीक्षाचिन्तन सीमित न हो गया, वरन् परवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने का स्वर उठाया। प्रारम्भ में ही यह धारणा धीरे धीरे स्पष्ट होने लगी है कि शब्द और अर्थ के अभिधार्थ में काव्य नहीं होता वरन् एक विशेष पारस्परिक सम्बन्ध में ही काव्य की सृष्टि होती है। आचार्यों ने काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का महत्त्व स्वीकार किया है और इसी उद्देश्य से काव्य-सामान्य के पर्याय के रूप में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी समन्वय की भावना को राजशेखर ने 'उक्तिविशेष' कह कर स्वीकार किया है। काव्य की भाषा में भव्यता, शब्द और अर्थ का विशेष प्रयोग तथा समन्वय-सिद्धान्तों का समावेश रहता है। जिसे अन्य आचार्यों ने 'उक्ति' की संज्ञा दी है, वही आचार्य भामह द्वारा वक्रोक्ति कहा गया है। भामह की इसी विचारधारा का समर्थन कुन्तक ने भी किया है। यों तो वक्रोक्ति की मूलधारणा भट्टनायक से प्रारंभ होती है पर उसका सप्रुचित-

विकास भामह और कुन्तक द्वारा हुआ है। भामह और कुन्तक दोनों आचार्यों द्वारा वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ से परे तीसरा अर्थ स्वीकार किया गया है। भामह ने उसे अलंकार की श्रेणी में स्वीकार किया है जिसके आधार पर साधारण उक्ति काव्य की श्रेणी में नहीं आ सकती। वाग्विदग्धता न होने कारण भामह स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते पर दण्डी ने स्वभावोक्ति को प्रारम्भिक अलंकार मानकर अलंकारों का विवेचन किया है। दण्डी के अनुसार रस और अलंकारों का सामंजस्य वक्रोक्ति में है। भोज ने रस को स्वीकार करते हुए भी उसे अलंकारों के समकक्ष ही माना है। भामह ने वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार ही माना है पर वक्रता को अलंकार की आधार-भूमि अवश्य स्वीकार करते हैं। वक्रोक्ति का चमत्कार-तत्त्व भी धीरे-धीरे विलीन होने लगा और पण्डितराज जगन्नाथ तक पहुँच कर वह रमणीयता में समा गया है।

कुन्तक द्वारा भामह की परिभाषा ही मान्य रही है। भामह की परिभाषा को देखने से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि भामह कवि-प्रतिभा के विषय में मौन हैं पर कुन्तक ने उसे प्रधान तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। उनका निश्चित मत है कि बिना कवि की प्रतिभा के वक्रोक्ति हो ही नहीं सकती। इससे भी आगे बढ़कर कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण कहा है। उनके अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ 'विचित्र उक्ति' होता है। उस वक्रता में तीन गुण सन्निहित होते हैं—(क) लोक एवं शास्त्र-प्रचलित रूढ़ शब्द-प्रर्थ से भिन्नता, (ख) कवि-प्रतिभा का चमत्कार, (ग) सहृदय में समानान्तर अनुभूति की अभिव्यक्ति की क्षमता। इन गुणों के आधार पर कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति उस विशेष शैली को कहते हैं जो लोकशास्त्र-प्रचलित अभिधार्थ से भिन्न, प्रतिभासम्पन्नता के कारण सहृदय में सम-अनुभूति की अभिव्यक्ति कर सके।

भामह से लेकर कुन्तक तक वाग्वैचित्र्य और कवि-प्रतिभा पर सतत विचार होते गये हैं पर भामह ने उसे अलंकार के समकक्ष ही स्वीकार कर लिया था। कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति-विवेचन में इसे पूर्णतः स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि रस, अलंकार, गुण, ध्वनि सभी तत्त्व वाग्वैचित्र्य में ही समाविष्ट होते हैं, अतः काव्य के उपादेय तत्त्वों में वक्रोक्ति का स्थान श्रेष्ठ है और यही काव्य की आत्मा होने की क्षमता भी रखता है।

रीति की प्रत्यक्ष विवेचना तो भरत ने नहीं की है पर देशगत भेदों के अध्ययन का संकेत मिलता है जिसे भरत मुनि ने 'प्रवृत्ति' की संज्ञा दी है। भरत के अनुसार 'प्रवृत्ति' पृथ्वी के विभिन्न देशों के वेश, भाषा और आचार को व्यक्त करती है। इससे भी आगे :—

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्य-प्रयोगतः ।

आवन्ती दाक्षिणात्याश्च पांचाली चौड्रमागधी ॥

लिख कर भरत ने इस प्रवृत्ति को भी चार भागों में विभक्त कर दिया है। इस विभाजन का मूल आधार प्रादेशिकता है। भरत के पश्चात् कादम्बरी के रचयिता बाणभट्ट ने भी इसी प्रसंग का उल्लेख किया है। बाण के संकेत से ऐसा मालूम होता है कि यह परम्परा तत्कालीन समाज में स्थिर हो चुकी थी। बाण ने लिखा है :—

श्लेषप्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येऽर्थं माचकम् ।

उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥

इसके अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के चार भागों में चार प्रकार की शैलियों का प्रयोग होता था और यह भी समाज में मान्य था कि दाक्षिणात्य की प्रभिव्यंजना-शैली कोमल और सोन्दर्यमयी थी तथा गौड देश की शैली में प्रक्षराडम्बर था।

भामह के समय केवल दो रास्ते थे : वैदर्भ और गौड। ये दोनों मार्ग क्रमशः भरत के दाक्षिणात्य और उड्रमागधी तथा बाण के दाक्षिणात्य और गौडशैलियों के समकक्ष रहे हैं। वैदर्भ और गौडीय में भी वैदर्भ की अपेक्षा गौडीय शैली हीन समझी जाती थी, पर भामह इसे स्वीकार नहीं करते। दोनों की अपनी-अपनी अलग सत्ता है। भामह के अनुसार काव्य के सामान्य गुण अलंकार, अग्राम्यता, अर्थ-सोन्दर्य, औचित्य तथा सरलता होते हैं। इन गुणों का अभाव या सद्भाव काव्य की समृद्धि का द्योतक है। वैदर्भ या गौडीय मार्ग अपने-आप में सत्काव्य नहीं हैं, ये गुण समान रूप से दोनों ही मार्गों में आ सकते हैं। साथ ही भामह ने रीति और गुण का कोई मौलिक सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया है। माधुर्य आदि गुणों को सत्काव्य के गुण स्वीकार करते हुए भामह ने लोकरूढ़ि का विरोध किया है तथा साथ ही रीतिगत प्रादेशिक विचार-धारा पर भी आघात किया है।

भामह के पश्चात् रीति-विवेचन दण्डी ने किया है। संस्कृत-समीक्षा-साहित्य में रीति की मान्यता पहली बार दण्डी ने स्वीकार की है। दण्डी के अनुसार रीति का प्रस्तित्व सर्वदा वस्तुगत नहीं होता। प्रत्येक कवि की अपनी विशेष रीति होती है। इस प्रकार दण्डी ने रीति में व्यक्तित्व की सत्ता को प्रधानता दी है। वैदर्भ और गौडीय रीतियों को लोक-परम्परा के अनुसार स्वीकार करते हुए दण्डी ने उसे सापेक्ष-रूप में स्वीकार किया है। रीति और गुण में एक विशेष सम्बन्ध की ओर बाणभट्ट ने संकेत किया था, उस विचार-धारा का विकास भी दण्डी ने किया है।

संस्कृत-समीक्षाशास्त्र में सब से पहले 'रीति' शब्द का प्रयोग आचार्य वामन ने किया है। इनसे पूर्व, जैसा कि संकेत किया गया है कि दण्डी और भामह ने भी रीति का विवेचन किया है पर किसी ने रीति की परिभाषा नहीं की है। वामन, गुण और रीति-सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। इन्होंने प्रचलित दो रीतियों के अतिरिक्त

पांचाली नाम से एक तीसरी रीति को स्वीकार किया है। आगे चलकर रुद्रट ने इनकी संख्या चार और भोजराज ने छः कर दी और नाम के लिए प्रादेशिकता का ही प्रयोग चलता रहा।

रीति-साहित्य के इतिहास में आचार्य कुन्तक का स्थान बहुत ही महत्व का है। आचार्य कुन्तक द्वारा इस प्रचलित प्रादेशिकता का अन्त हो गया है। उनके अनुसार रीतियों का सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से है न कि देश से। वस्तुतः यह एक क्रान्ति-कारी विचारधारा है जब कि कुन्तक ने लोकपरम्परा के विरुद्ध आवाज उठायी है।

आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। रीति का अर्थ विशिष्ट पद-रचना है। उनके विचारों में गुणसम्पन्न पद-रचना काव्य की आत्मा है। वामन ने, वस्तु और रीति में, रीति को ही प्रधानता दी है। उनके अनुसार चित्र में जो स्थान रेखा का होता है वही स्थान काव्य में रीति का है। इस प्रकार वामन का दृष्टिकोण सर्वथा व्यक्तिगत है।

रीति के साथ ही एक और साहित्यिक चेतना का विकास हुआ है जिसे हम वृत्ति के नाम से जानते हैं। भरत मुनि ने भी इन शक्तियों का विचार अपने नाट्य-शास्त्र में किया है। शक्तियों का सम्बन्ध प्रारम्भ से ही काव्य से रहा है। अपने नाट्य-शास्त्र में उन्होंने भारती वृत्ति को श्रव्य काव्य के अनुकूल माना है। कुछ समीक्षकों को यह धारणा है कि ये वृत्तियाँ ही आगे चल कर रीति हो गई हैं। लोकमान्यता के अनुसार हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि रीति और वृत्ति दोनों का सतत एवं समानान्तर विकास, साहित्य-क्षेत्र में, दो अलग तत्त्वों के रूप में हुआ है।

संस्कृत-समीक्षाशास्त्र में रीति का विकास देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रीति का सम्बन्ध अर्थ और विषय से था। प्रारम्भ में यह तत्त्व पूर्णतः विकसित नहीं हो पाया है और इसका विकास मूलतः वृत्तियों की सहायता से हुआ है। रीति और वृत्ति में धीरे-धीरे अभिन्नता प्रतिपादित की जाने लगी और कुछ ही समय में वंदर्भी तथा गोडी रीतियों को केशिकी एवं आरभटी वृत्ति के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है। वृत्ति अपने दूसरे अर्थ में भी संस्कृत-साहित्य में विकसित होती रही है और उसके अन्तर्गत उसे कोमला, उपनागरिका तथा परुषाः इन तीन वृत्तियों में विभक्त किया गया है। वृत्ति का यह स्वरूप भी आगे चल कर रीति में ही समाविष्ट हो गया। वृत्ति की रीति के समानान्तर विकास के कारण रीति में रस और अर्थ-तत्त्व भी धीरे-धीरे आते गये और काव्य में वृत्ति और रीति का समन्वित रूप रीति की संज्ञा पाने लगा। इस रूप में विकसित रीति में काव्य के सभी गुणों का समावेश हो गया है।

वृत्ति के साथ ही गुणों का भी विकास हुआ है। भरत ने गुणों की संख्या दस मानी है जहाँ अग्निपुराण में उनकी संख्या १६ बतलाई गई है। दण्डी और वामन ने

क्रमशः भरत के और स्वतंत्र विचार प्रकट किये हैं। वामन ने १० अर्थ-गुण और १० शब्द-गुण स्वीकार किया है। भोजराज ने इनकी संख्या में १४ गुणों को और मिला दिया है। इस प्रकार भरत से लेकर भोज तक सभी आचार्यों ने दश गुणों की ही प्रधानता स्वीकार की है। केवल आचार्य भामह इनसे अलग हैं। पीयूषवर्णन के विचारों में थोड़ी मौलिकता का दर्शन होता है और उनके अनुसार भरत के दश गुण आठ ही रह जाते हैं। भामह ने प्रसाद, माधुर्य और ओज केवल तीन गुणों का उल्लेख किया है।

गुणों की आवश्यकता पर विचार करते हुए, अग्निपुराण में, यह संकेत मिलता है कि काव्य में शोभा के लिए गुण आवश्यक हैं। दण्डी ने इसे काव्य का प्राण स्वीकार किया है और वामन ने गुणों को काव्य का आवश्यक तत्त्व माना है। सभी प्राचीन आचार्यों की गुण-सम्बन्धी विचारधारा को देखने से यह स्पष्ट होता है कि शब्द और अर्थ में चमत्कार भरने वाली शक्ति गुण है। बीच में अलंकारों और गुणों में कुछ अस्पष्टता आने लगी थी पर आचार्य मम्मट ने इसे स्पष्ट कर दिया है। इनके अनुसार गुणों का काव्य की आत्मा से सम्बन्ध है पर अलंकारों का इससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। नित्य और स्थिरधर्म होने के कारण गुणों का सम्बन्ध काव्य की आत्मा से है। पण्डितराज ने चित्त-वृत्तियों को उनके उपयोगी स्वरूप में गुण माना है। शब्द और अर्थ की उपादेयता होने के कारण इनका सम्बन्ध चित्तवृत्तियों से होता है और ये ही चित्तवृत्तियाँ गुण कहलाती हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रीति के साथ ही उसके अभिन्न अंग के रूप में वृत्ति और गुणों का विकास हुआ है। रीति के साथ ही गुणों को काव्य के लिए आवश्यकता प्रतिपादित की गई है, वस्तुतः दोनों तत्त्व रीति के ही अंगमात्र हैं।

ध्वनि को काव्य के प्रमुख तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-विवेचन से पहले भी ध्वनि अपने इसी रूप में मान्य थी, जहाँ-तहाँ इसके कुछ संकेत मिलते हैं। इतना अवश्य था कि ध्वनिकार से पहले ध्वनि का शृङ्खलाबद्ध विवेचन नहीं किया गया था। आनन्दवर्द्धन ने ध्वनितत्त्व को प्रधानता प्रदान करते हुए रस की समुचित व्याख्या तैयार की है। परवर्ती आचार्यों ने आनन्दवर्द्धन के इस विवेचन को केन्द्र-बिन्दु मान कर कार्य किया है। यह नहीं था कि आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त को विरोधों एवं विवादों का सामना न करना पड़ा हो। यह था और यहाँ तक कि अलंकार, गुण, रीति सभी मत के आचार्यों ने इसका खुला विरोध किया है। प्रतिहारेन्दुराज तो काव्य में ध्वनि-तत्त्व का कोई स्थान मानने को तैयार ही न थे। ध्वनि-सिद्धान्त के उदाहरणों को, अलंकारों का उदाहरण बताते हुए उन्होंने ध्वनितत्त्व को अलंकार से ढँक दिया है। भट्टनायक ने रस-सिद्धान्त के आचार्य होकर भी ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन किया है। अभिनवगुप्त को आनन्दवर्द्धन का दृष्टिकोण स्वीकार नहीं है। घनंजय जैसे

कुछ आचार्यों को व्यंजना के स्थान पर तात्पर्य शक्ति मान्य है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति में ही ध्वनि को सीमित कर दिया है। कुन्तक मूलतः रस के विरोधी नहीं है और न उन्हें ध्वनि के सामान्य स्वरूप से कोई विरोध है; पर—वक्रोक्ति में ही काव्य के समस्त तत्त्व सन्निहित है—ऐसा वे स्वीकार करते हैं। रस, अलंकार, ध्वनि अथवा रीति, सभी वक्रोक्ति के अंगमात्र हैं।

महिमभट्ट ने आनन्दवर्द्धन का खुला विरोध किया है। वे शब्द को शक्तिहीन मानने को तैयार नहीं हैं। उनके अनुसार अभिधा और लक्षणा काव्य-शक्तियाँ ही पर्याप्त हैं। रसानुभूति या काव्यानुभूति तो एक अनुमानमात्र है जिससे आनन्द की कल्पना की जाती है। अभिनवगुप्त, महिमभट्ट, कुन्तक और भोज समकालीन बताये जाते हैं। इन सभी ने ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध किया है पर कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त-विवेचन को छोड़कर अन्य किसी भी विरोध को प्रौढ़ चिन्तन नहीं कहा जा सकता।

‘ध्वनि’ शब्द का प्रयोग समीक्षाशास्त्रियों से पहले वैयाकरणों ने किया है। वैयाकरणों ने जिस अर्थ में ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है, ध्वनिकार ने उसे उसी रूप में स्वीकार किया है। साहित्य-क्षेत्र में इस ध्वनि का अर्थ व्यंजित हो गया है और इसी आधार पर ध्वनिकार ने व्यंग्यार्थ को ही काव्य का प्राण स्वीकार किया है। यह पहला प्रयास था कि काव्य की आत्मा और शरीर की पृथक्-पृथक् कल्पना सामने आयी है। सभी आचार्यों ने किसी एक तत्त्व को काव्य की आत्मा और शेष आवश्यकताओं को काव्य के शरीर के रूप में माना है। ध्वनिकार ने अपने विवेचन में रस, अलंकार और वस्तु तीनों की व्यंजना स्वीकार की है पर विशेष बल रस पर दिया है। उसके विचार में रस ही काव्य की आत्मा है।

परवर्ती सभी आचार्यों ने किसी न किसी प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त को स्वीकार किया ही है—ऐसा ऊपर संकेत किया गया है। ध्वनि-सिद्धान्त और विवेचन का निरन्तर विकास होता गया है और साथ ही उसमें अनेक भेद-उपभेदों का रूप भी स्पष्ट होता गया है। अनेक आधारों को स्वीकृत करने के कारण इनकी संख्या धीरे-धीरे ५१ हो गई है। ध्वनि के वर्गीकरण में मूलतः अभिधा, लक्षणा, पद, वाच्य, वर्ण, रचना और प्रबन्ध का आधार लिया गया है। शब्द और अर्थ को आधार मान कर भी वर्गीकरण किया गया। ध्वनि का जितना अधिक विवेचन, विरोध एवं निरूपण होता गया है; रस की प्रधानता अपने-आप स्पष्ट हो गयी है। ध्वनि-विवेचन का सबसे प्रमुख प्रभाव यह हुआ है कि तत्कालीन अथवा परवर्ती, सभी आचार्यों ने, रस की प्रधानता मान ली है, उससे भी आगे उसे काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया है। वस्तुतः ध्वनिकार के विवेचन ने साहित्य में एक विशिष्ट एवं संयत विचारधारा का प्रारम्भ

कर दिया है जिसने परवर्ती आचार्यों एवं साहित्यकारों को मार्ग-दर्शन के साथ-साथ प्रौढ़ चिन्तन की ओर भी अग्रसर किया है।

समस्त संस्कृत-समीक्षासाहित्य पर दृष्टिपात करने से यह विदित होता है कि इन आचार्यों ने समीक्षा का बहुत ही प्रौढ़ मानदण्ड दिया है। इतना विस्तृत विवेचन, सम्भवतः, विश्व के किसी भी साहित्य में नहीं हुआ है। काव्य-सामान्य, रस, अलंकार, गुण, वृत्ति, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, दोष, औचित्य आदि काव्य के आवश्यक तत्त्वों के संयत विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समीक्षा-विधि में गुण-दोष को, अच्छे-बुरे को बड़े ही सुलभे हुए विचारों में व्यक्त किया जाता रहा है। रस, ध्वनि और औचित्य का सिद्धान्त समीक्षा-शास्त्र की वह त्रिवेणी है जिसे पाकर संस्कृत का साहित्य निखर उठा है। इन्हीं में सत्काव्य के समस्त आवश्यक तत्त्व समाये हुए हैं। समीक्षा के मानदण्डों के साथ ही काव्य-वृत्ति के रूपों का भी विशद वर्णन किया है। साहित्य की समस्त विधाओं की एक रूपरेखा स्पष्ट सी हो गयी है। इतना ही नहीं; वरन् प्राचीन आचार्यों ने आलोचकों के वास्तविक स्वरूप तथा उत्तरदायित्व का भी विवेचन किया है जिसमें पाश्चात्य कवि और आलोचकों को एक-दूसरे का विरोधी नहीं बताया है; उनके अनुसार कवि और आलोचक एक दूसरे के पूरक हैं। कवि में जिस प्रतिभा की अपेक्षा की जाती है वही प्रतिभा आलोचक में भी अपेक्षित है। कवि स्रष्टा है पर आलोचक उसका परिष्कारक है। उसकी उपेक्षा किसी भाँति भी नहीं की जा सकती। आलोचक को सर्वदा सहृदय होना चाहिए। काव्यसामान्य-गुणों से परिचित आलोचक आने वाले साहित्यिक या कवि का भलीभाँति मार्ग-निर्देशन कर सकता है।

संस्कृत-आलोचक की शब्दावली शास्त्रीय ही रही है। कुछ लोगों का कहना है कि इस कारण उनकी आलोचना हृदयगत भाव-व्यंजना से प्रभावित न होकर शास्त्रीय प्रणाली की हो जाती है जिसके लिए पिटी-पिटायी लकीर चलती है। वस्तुतः आलोचना की वह पद्धति बहुत ही संयत होने के कारण साधारण समाज के लिए न होकर काव्य समझने वाले क्षमतापूर्ण व्यक्तियों के लिए ही है। सबसे बड़ी बात जो संस्कृत आलोचना की है, वह है निष्पक्षता। जहाँ, वे निष्पक्ष होकर गुणों की ओर संकेत करते हैं, वहीं किसी भी महाकवि की रचना का दोष भी बड़े स्पष्ट शब्दों में रखते हैं। आज जैसी छिछली आलोचना की प्रवृत्ति उस समय नहीं दीख पड़ती।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि शताब्दियों के सतत परिश्रम एवं गहन चिन्तन के परिणामस्वरूप जो समीक्षा-सिद्धान्त बन पाये हैं, उनका महत्त्व आज भी उसी प्रकार का है। हिन्दी-साहित्य को समीक्षा का यह शास्त्रीय मानदण्ड संस्कृत-साहित्य से प्राप्त हुआ है। हिन्दी-साहित्य का रीति-युग, जिसे हम कला-युग के नाम से जानते हैं, इसी अध्ययन का प्रभावमात्र है।

आधुनिक हिन्दी-आलोचना में पाश्चात्त्य एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-प्रणाली का समावेश अवश्य हुआ है पर काव्य की सच्ची परख के लिए इन आचार्यों को देन को भुलाया नहीं जा सकता । यदि इन सिद्धान्तों एवं संस्कारों को नवीन दृष्टिकोण से ग्रहण किया जाय तो सम्भवतः हिन्दी-आलोचना का एक नया रूप होगा, ऐसी आशा की जा सकती है ।

रीतिशुगीन आलोचना की प्रगति

पिछले अध्याय से स्पष्ट हो गया है संस्कृत-साहित्य, जो हिन्दी क्या, समस्त भारतीय भाषाओं का मूल स्रोत है, साहित्य-शास्त्र, नियमन, लक्षण आदि का प्रौढ़ चिन्तन है। भरत मुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक, सभी आचार्यों ने साहित्य एवं काव्य-सामान्य का गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। हो सकता है कि सभी ने किसी अंगविशेष का चिन्तन ही किया हो, जिसके आधार पर विशेष सिद्धान्त देखने को मिलते हैं। प्रारम्भ में सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए, तर्कों का सहारा लिया गया है। सिद्धान्त-स्वीकृति के पश्चात् तर्क निर्बल पड़ने लगे और विश्लेषण एवं विवेचन ने तर्कों का स्थान ले लिया। इसके पश्चात् वस्तु-परिचय एवं ज्ञान-प्रकाशन को महत्त्व दिया गया। स्पष्ट कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक आचार्यों ने जिन सिद्धान्तों को तर्कों का सम्बल देकर प्रौढ़ किया था, इस योग्य बनाया था कि साहित्य का शास्त्रीय पक्ष पुष्ट हो, उसे भावनाओं ने अपनी क्रीड़ा-स्थली बना लिया है। यह वह सन्धिस्थल है जहाँ समीक्षक, आचार्य और कवि का व्यक्तित्व एक में ही मिलने लगा है। सच तो यह है कि आचार्यों के प्रौढ़-चिन्तन के पश्चात् कुछ शेष रह ही नहीं गया है जिस पर प्रौढ़ चिन्तन का विकास हो। केवल पिष्टपेषण-मात्र से गम्भीरता एवं अध्ययन कभी भी प्रगति नहीं पा सका है। यहाँ तक आते-आते यह स्पष्ट हो गया है कि हम चिन्तन से भावना की ओर, पिष्टपेषण की प्रवृत्ति से परिचालित होकर, बढ़ रहे थे। परिणाम यह हुआ कि अधूरा विवेचन शास्त्र की संज्ञा से अभिहित होने लगा।

हिन्दी ने संस्कृत-समीक्षाशास्त्र को अपनी पैतृक सम्पत्ति के रूप में लिया है। यद्यपि प्राकृत एवं अपभ्रंश के माध्यम से आये हुए ये साहित्य-सिद्धान्त हिन्दी तक आते-आते कुछ-कुछ विकृत अवश्य हो गये थे, पर हिन्दी ने उन्हें उस रूप में स्वीकार न कर, संस्कृत के मूल रूप में ही ग्रहण किया है। इसका मूल कारण यही कहा जा सकता है कि पाली या अपभ्रंश मूलतः लोकभाषा रही हैं, पाण्डित्य-प्रदर्शन या विषय-विवेचन के अनुकूल क्षमता इनमें न मान कर उस समय के विद्वानों ने भी संस्कृत का ही सहारा लिया है। वस्तुतः इसे हम नानसिक दासता भी कह सकते हैं जिसमें समय के साथ आगे चलने का कोई चिह्न ही नहीं दिखाई देता। प्राकृत, पाली या अपभ्रंश का उपयोग तत्सामयिक धार्मिक नेताओं ने, अपने धार्मिक सिद्धान्तों को लोकप्रिय बनाने के लिए, किया है। इस प्रकार इस समय तक हमारी साहित्यिक एवं लोक-

भाषा का अन्तर अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हो गया है। धर्म-प्रचार के लिए स्वीकृत भाषा पाली में मनोरंजन का स्थान न होने से भावनात्मक साहित्य की सृष्टि नहीं हो पायी है। अपभ्रंश को विद्वत्समाज की भाषा न मान कर एक सीमा में बाँध दिया गया है। प्राप्य उदाहरणों एवं साहित्य के आधार पर कहा जा सकता है कि अपभ्रंश का प्रयोग तत्कालीन नाटककारों ने स्त्रियों या उपेक्षित पात्रों द्वारा कराया है। इस विचारगत संकुचित क्षेत्र में विकसित होने के कारण पाली, प्राकृत या अपभ्रंश में समीक्षा-साहित्य का सृजन नहीं हो पाया है। कहीं-कहीं उदाहरण एवं विवेचन में संकेत रूप में मिले हुए तत्त्वों के आधार पर उनका सम्बन्ध रोति-साहित्य या संस्कृत-साहित्य के समीक्षा-शास्त्र से लगाना नितान्त भ्रमात्मक है। इन भाषाओं में समीक्षा शास्त्र का विवेचन पूर्णतः नहीं हुआ है। यदि प्रसंगवश कहीं संकेत मिलता भी है तो वह प्राचीन सिद्धान्तों का उल्लेख मात्र कहा जा सकता है। उनमें न कोई काव्य-निरूपण की विचारधारा मिलती है, न मौलिकता और न कोई उद्देश्य। संस्कृत समीक्षाशास्त्र की परम्परा पण्डितराज जगन्नाथ तक आकर एक प्रकार से अवरुद्ध हो जाती है। उसका नया रूढ मात्र हिन्दी के रोति-युग में प्रारम्भ किया जाता है। यह स्पष्ट है कि जो कुछ भी संस्कृत ने हिन्दी को पैतृक सम्पत्ति के रूप दिया है, उसका ही विवेचन, विश्लेषण, एवं परिष्करणमात्र हिन्दी-रोति-युग में होता है, अपनी देन यहाँ भी कुछ नहीं है। 'रोति' शब्द का प्रयोग उस विशेष अर्थ में यहाँ नहीं होता है, जिसमें आचार्य वामन ने किया है। यहाँ इसका क्षेत्र काव्य-रचना का नियम एवं 'सिद्धान्त-निरूपण' हो गया है। इस मौलिकता को छोड़ कर सम्भवतः कुछ भी अपना नहीं है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

हिन्दी का रोति-साहित्य पूर्णतः संस्कृत-सिद्धान्तों का अनुकरण मात्र है। हमें मौलिकता की खोज इसमें नहीं करना चाहिए और न चाहिए सिद्धान्तों के प्रति नवीन दृष्टिकोण की खोज ही। न तो यह प्रौढ़ चिन्तन का युग रह गया है, न व्यक्तिगत एवं सन्तुलित विचारधारा का; और न सिद्धान्त-प्रतिपादन की रुचि का ही। यदि कोई प्रेरणा की चीज रह गयी है तो वह है हिन्दी-कवियों का आचार्य बनने का मिथ्या मोह। इन कवियों-आचार्यों से पूर्व हिन्दी-कविता प्रौढ़ हो चुकी है, कविता का विषय एवं वस्तुगत क्षेत्र संश्लिष्ट हो चुका है, उसका एक साहित्यिक रूप निश्चित हो गया है। हिन्दी-गगन में आये हुए नक्षत्रों, सितारों और ग्रहों द्वारा इतना सत्साहित्य मिल चुका है कि उसकी परीक्षा की जा सके और हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण हो सके। इस समय के आचार्यों ने अपनी सीमा बना कर उसी के बीच अपने लक्ष्य के अनुसार बुद्धि-क्रीडा की है। उन्होंने संस्कृत-समीक्षाशास्त्र के गहन अध्ययन तक न जाना निश्चित कर हिन्दी साहित्य की प्राप्त सामग्री पर ही अपना कार्य सीमित कर दिया है। परिणाम यह हुआ है कि मौलिकता का सतत अभाव आ गया है। जहाँ कहीं संस्कृत-सिद्धान्त-

निरूपण की पद्धति का अनुकरण किया है, वहाँ भी इन आचार्यों को सफलता नहीं मिल सकी है। हिन्दी-गद्य की अविकसित अवस्था, कवि और आचार्य बनने का मिथ्या मोह, अध्ययन की कमी, सूक्ष्म एवं संयत दृष्टिकोण का अभाव तथा विवेक एवं तर्क की कमी ने इन्हें सफल नहीं होने दिया है। प्राप्त सामग्री के आधार पर यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि इनमें कवि के व्यक्तित्व का विकास होना सम्भव था पर परिस्थितियों ने इन्हें आचार्य बनने के लिए बाध्य कर दिया है जिसके परिणामस्वरूप न तो वे कवि रह पाये हैं और न सच्चे रूप में आचार्य ही बन पाये हैं। सम्पूर्ण रीति-साहित्य के विषय में कहा जा सकता है कि तत्कालीन परिस्थितियों में साधारण व्यक्तित्व का ही निर्माण हो सकता था। दास तथा केशव जैसे इने-गिने लोग हैं, जिनमें तर्कपूर्ण विवेचन-प्रधान शैली दृष्टिगोचर होती है। इस युग की सबसे बड़ी कमी है संस्कृत-परम्परा का अविवेकपूर्ण ग्रन्थानुकरण, जिससे हिन्दी की वास्तविक प्रवृत्ति का ह्रास हो गया है। साथ ही, न तो संस्कृत की भाँति सम्प्रदाय बन पाये हैं और न हिन्दी की प्रवृत्ति की रक्षा ही हो सकी है। ध्वनि और शब्द-शक्ति के सिद्धान्त तो पूर्णतः उपेक्षित हो गये हैं। जो कुछ रीति-साहित्य मिलता है उसमें रस और अलंकारों का ही विवेचन है और वह भी उसी पिटी-पिटायी लकीर पर। इनका क्षेत्र भी सीमित हो गया है। रस में शृङ्गार, विशेषतः वियोग-शृङ्गार तथा अलंकारों में छिछले निरूपण तक ही सीमा बन पायी है। भाव तथा कला-पक्षों के विवेचनों के अतिरिक्त काव्य-विधि में भेद-विभेदों पर तो किसी ने सोचा तक भी नहीं है। परम्परागत लक्षणों को ही सत्य मान कर ग्रन्थानुकरण किया गया है। हाँ, यदि इस युग में कहीं प्रयोग हुए हैं तो वे हैं छन्द के प्रयोग मात्र। विलासी एवं अकर्मण्य राजाओं के आश्रय में शब्दों का शतरंज अचिन्ती तरह पनपता रहा है (१७)

कुछ आलोचकों का विचार है कि हिन्दी के रीति-ग्रन्थ प्रारम्भ में ही मिलने लगते हैं और इस परम्परा का सबसे पहला कवि पुण्य माना जाता है। इस विचारधारा के पक्ष में न तो पुण्यकवि की कोई रचना मिलती है और न यह रीति-परम्परा ही विकासोन्मुख दीख पड़ती है। ऐसी अवस्था में इसे एक धारणामात्र मान कर छोड़ देना होगा। आचार्य शुक्ल एवं शिवसिंह 'सरोज' ने भी इसका उल्लेखमात्र किया है, सम्भवतः जनश्रुति एवं परम्परा की ओर संकेत करने के लिए ही। यदि हम पुण्य को पहला कवि मानते हैं तो उसका समय लगभग ७५० ई० के आस-पास है जैसा कि शुक्ल जी ने संकेत किया है। उस समय हिन्दी पनप ही रही थी। वस्तुतः उसमें क्षमता, प्रौढ़ता एवं चिन्तन की योग्यता नहीं आ पायी थी। वह हिन्दी-प्राकृत का संधि-युग था। ऐसी दशा में पुण्य को पहला हिन्दी रीतिकार स्वीकार करने में, जब कि हमारे पास कोई भी प्रमाण उपलब्ध न हो, मन को थोड़ा संकोच

होता है। प्रात सामग्री के आधार पर हिन्दी के रीति-साहित्य की परम्परा का प्रारम्भ सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में मिलता है। यह स्पष्ट है कि हिन्दी-कवियों में, संस्कृत के अध्ययन के फलस्वरूप काव्य के मूल तत्त्वों का ज्ञान अवश्य था, जिसकी ओर महात्मा तुलसीदास ने 'निगमागमसम्मत' लिख कर संकेत किया है। साहित्य-भण्डार समृद्ध हो जाने के पश्चात् उसके परीक्षण की आवश्यकता होती है। फलतः हिन्दी में भी बैसा ही हुआ है। तुलसी-सूर की काव्य-चेतना के पश्चात् हिन्दी-साहित्य में इतनी सामग्री हो गयी है कि उसमें नये लक्षणों की खोज एवं परीक्षण किया जा सके। कवियों में समीक्षा-तत्त्व भी स्पष्ट दिखायी देने लगे हैं पर परम्परा का मोह पैरों में उलझ गया है। नये लक्षण अपनत्व से दूर रह गये हैं। काव्यशास्त्र की ओर सतर्क होने पर भी कवि-समुदाय परम्परा-मुखोपक्षी हो गया है। ऐसी अवस्था में काव्य के भाव-पक्ष में परिष्करण न होकर कला-पक्ष का विवेचन हो पाया है। इसका स्पष्ट प्रभाव काव्य की मूलभूत शक्ति पर पड़ा है। बाह्य चमत्कार, अलंकार, वक्रोक्ति, शब्दजाल आदि का प्रभुत्व होने पर रसग्रहण के लिए काव्य के शास्त्रीय पक्ष का ज्ञान होना आवश्यक हो जाता है। ध्यान रहे कि ऐसे में केवल काव्य की कलात्मकता निखरती है, उसका भावात्मक जीवन छटपटा उठता है। काव्यशास्त्र का विकास ऐसी ही परिस्थिति में होता है।

शुक्लजी के संकेतों पर यदि हम यह स्वीकार कर लें कि पुष्प नामक कवि हुआ था, तो हमारे सामने तीन समस्याएँ स्पष्ट हो जाती हैं। पहली समस्या यह कि उस समय ही रीति-विचारों की स्पष्टता प्रतिपादित हो चुकी थी, जिसके स्पष्ट प्रभाव हिन्दी के प्रमुख कर्णधारों, सूर-तुलसी की रचनाओं में परिलक्षित होते हैं। दूसरी समस्या यह कि निश्चय ही परिस्थितियों ने कवि को बाध्य कर दिया था कि रीति-निरूपण की ओर उनका ध्यान जाय। तीसरी समस्या यह कि रीति-युग के प्रारम्भ होने से पहले ही अलंकार-विवेचन एवं नायिका-भेद के उदाहरण मिलने लगते हैं। हाँ, इतना है कि इसकी कोई परम्परा नहीं बन पायी है। केवल परम्परा का प्रारम्भ करने के नाते ही हम चिन्तामणि को हिन्दी के रीति-युग का प्रथम आचार्य मानते हैं।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि आचार्य चिन्तामणि से पहले 'रीति-विवेचन' प्रारम्भ हो चुका था। आचार्य केशवदास उस परिस्थिति एवं साहित्य के प्रतीक हैं। उस युग के वे सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने हिन्दी में सर्वप्रथम काव्य-सामान्य को अपना काव्य-विषय स्वीकार किया है। केशव का उद्देश्य ही था, अपनी चमत्कारपूर्ण कविता के माध्यम से कवि-समुदाय को नया रास्ता दिखाना, शिक्षा देना। वे कभी भी यह नहीं चाहते थे कि केवल परम्परागत सिद्धान्त-निरूपण-मात्र किया जाय। स्पष्ट है कि न उन्हें गम्भीर शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करना था, और

न उन्हें भावमयी रसपूर्ण कविता लिखना ही। यदि उनका कोई अभीष्ट था तो वह था संस्कृत के ज्ञान-भण्डार को समाज और साहित्य के सामने रखना। काव्य-विषयक उनके विचार अपेक्षाकृत बड़े ही स्पष्ट थे। वे चमत्कारपूर्ण अलंकृत विचारधारा के पक्षपाती थे क्योंकि उनके अध्ययन की पृष्ठभूमि में संस्कृत के प्राचीन आचार्यों का गहन चिन्तन था। भामह, दण्डी, उद्भट आदि आचार्य उनके आदर्श थे। आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ या पण्डितराज जगन्नाथ उनके आदर्श नहीं बन सके। 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' में व्यक्त केशव के विचार प्रधानतः संस्कृत-आचार्यों के विचार ही कहे जा सकते हैं। सिद्धान्तों के विषय में किसी प्रकार की मौलिकता नहीं बतायी जा सकती। केशव का महत्त्व केवल इतना हो है कि उन्होंने काव्यांगों पर, संस्कृत-सिद्धान्तों के अनुकरण रूप में ही सही, पूर्ण विचार किया है।

कविप्रिया और रसिकप्रिया में केशव ने काव्य के प्रायः सभी अंगों पर विचार किया है, विशेषतः भाषा का कार्य, कवि की योग्यता, कविता का स्वरूप, उद्देश्य, काव्य-रचना के ढंग, कविता के प्रकार, कवि-वर्ग-विभाजन, वर्णन के प्रकार, काव्य-दोष, अलंकार, रस, वृत्तियों आदि पर। केशव के अनुसार कवि तीन प्रकार के होते हैं : उत्तम, मध्यम और अधम; जिसकी आधारशिला उनकी भावना-विशेष है। उत्तम परमार्थ की, अधम स्वार्थ की और मध्यम इन दोनों प्रवृत्तियों के सामंजस्य की भावना से प्रेरित होते हैं। इसी प्रकार वर्णनों के भी केशव तीन प्रकार मानते हैं जिनकी पृष्ठभूमि में सत्य-चिन्तन, असत्य-चिन्तन और कवि-सत्य की भावना दिखायी देती है। इससे परोक्ष रूप में केशव संकेत करते हैं कि कवि-स्वातन्त्र्य के साथ ही सत्य की उपेक्षा अपेक्षित नहीं है। काव्य के समस्त गुणों की अपेक्षा अलंकारों पर केशव विशेष महत्त्व देते हैं जिसे उन्होंने दो वर्गों में, साधारण एवं विशिष्ट, कह कर विभाजित किया है।

यद्यपि कविप्रिया और रसिकप्रिया परवर्ती रीतियुगीन आचार्यों के लिए किसी प्रकार उपेक्षा की वस्तु न बन सकी फिर भी केशव की यह काव्य-चिन्तन की परम्परा चल न सकी। यह स्वीकार करते हुए भी, कि हिन्दी रीति-साहित्य के प्रथम आचार्य चिन्तामणि हैं, केशव के आचार्यत्व को किसी प्रकार भी शंका की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। हिन्दी-साहित्य पर केशव का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। कविप्रिया के अलंकार-विवेचन के अध्ययन के बिना अलंकार-सम्बन्धी ज्ञान अधूरा ही समझा जाता रहा है। साथ ही, उन दो विचारधाराओं का, जिन्हें हम रीतियुग का मूल तत्त्व मानते हैं, स्पष्ट रूप केशव में मिल जाता है। वे धाराएँ हैं अलंकार-विवेचन तथा रस एवं नायिका-भेद। इस प्रकार अस्पष्ट रूप में हम यह देखते हैं कि रीति-साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार करने का कार्य केशव ने किया है।

चिन्तामणि ने अपने सिद्धान्तों के लिए मम्मट और विश्वनाथ का आश्रय लिया है। काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण ही चिन्तामणि के लक्ष्य-ग्रन्थ थे। इन्हीं के आधार चिन्तामणि ने काव्य का स्वरूप, काव्य का प्रयोजन, भेद, काव्य की आत्मा आदि के लिए लिया है। प्रातः रीतियुगीन साहित्य में काव्यप्रकाश का अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है तथा अलंकार-विवेचन के लिए जयदेव के चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द का आधार लिया गया है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण रीति-साहित्य एक प्रकार से संस्कृत का अनुकरण है। संस्कृत-आचार्यों ने अपने प्रौढ़ चिन्तन का परिचय काव्य-सामान्य-विवेचन के माध्यम से दिया है, पर यह बात हिन्दी के रीति-कालीन आचार्यों के विषय में कभी भी नहीं कही जा सकती। मूलतः जिस प्रकार संस्कृत से हिन्दी को काव्य-भाषा का स्वरूप मिला है, उसी प्रकार उन्हीं सिद्धान्तों का, प्रौढ़ चिन्तन का भी, उनका हिन्दीकरणमात्र, स्थूल विवेचनमात्र, रीतिकालीन आचार्यों ने किया है। संस्कृत-आचार्यों जैसी एकनिष्ठ साधना की कमी, और विश्रृंखल मानवता के प्रति मोह—इन दो तत्त्वों ने रीतिकालीन आचार्यों को जकड़ दिया है।

काव्य की परिभाषा के विषय में रीतिकालीन आचार्यों ने कुछ भी नहीं लिखा है। रस, ध्वनि, अलंकार आदि के सामंजस्य की बात से मम्मट का काव्यप्रकाश ही इनका लक्ष्य-ग्रन्थ रहा है। अस्पष्ट रूप में समस्त रीतिकाल मम्मट से प्रभावित है। इस काल के समस्त आचार्यों ने रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। 'काव्य के प्रयोजन' के विषय में इस युग में एक धारणा बन गयी है कि काव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन है। यह मत अपेक्षाकृत अधिक लोगों से मान्य रहा है पर कुलपति जैसे लोगों ने मम्मट के द्वारा निर्देशित प्रयोजनों को ही मान्यता दी है। आचार्य भिखारीदास ने शक्ति, निपुणता और अभ्यास को काव्य का हेतु माना है।

इस काल में रसों का भी पर्याप्त विवेचन किया गया है। प्रौढ़-चिन्तन एवं मौलिक विश्लेषणों की कमी होते हुए भी इस युग में कुछ आचार्यों ने इस पर विचार किया है। यद्यपि यह रस-निरूपण संस्कृत की छायामात्र ही है फिर भी उसके विश्लेषण एवं विधियों में नवीनता प्रतिपादित की गयी है। यहाँ भी मम्मट का ही आधार लिया गया है। यद्यपि उनके सामने पण्डितराज जगन्नाथ के रस-विवेचन का प्रौढ़-चिन्तन था पर उस पर कौन परिश्रम करे। परम्परागत आये हुए सिद्धान्तों के अनुसार रीतिकालीन आचार्यों ने भी शृङ्गार को ही रसरज माना है। एक प्रकार से सम्पूर्ण रीति-साहित्य में केवल शृङ्गार का ही प्रसार है। इन आचार्यों के अनुसार शृङ्गार में ही समस्त रसों का समावेश रहता है। उन्हीं से उनकी उत्पत्ति

होती है और उसी में उनकी समाप्ति निहित है। रस-चिन्तन में देव का विशेष योगदान रहा है। वस्तुतः देव द्वारा ही रीतिकालीन रसधारा का प्रतिनिधित्व हुआ है।

रीतिकाल का प्रमुख विषय रहा है अलंकार-विवेचन तथा नायिका-भेद। इस समय में जो भी अलंकार-विवेचन से सम्बन्धित सामग्री मिलती है, सभी पर चन्द्रालोक और कुवलयानन्द का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। केशव ने कविप्रिया के अलंकार-प्रसंग के लिए दण्डी का आधार लिया था, पर रीतिकालीन आचार्यों ने कविप्रिया को मान्यता न देकर अलंकार-निरूपण का सीधा सम्बन्ध जयदेव के चन्द्रालोक से रक्खा है। कुछ आचार्यों ने मम्मट के अलंकार-सम्बन्धी मत को स्वीकार किया है।

यों तो इस युग में काव्य-सामान्य के समस्त उपकरणों का संकेत मिल जाता है पर अपेक्षाकृत अलंकार और नायिका-भेद इस युग का प्रमुख विषय रहा है। इन अलंकार-वादियों ने अनुकरण की प्रवृत्ति भी पूरी नहीं निभायी है। परिणाम यह हुआ है कि उनके विवेचनों में अलंकार के व्यापक स्वरूप का दर्शन भी नहीं होता। संस्कृत के प्राचीन आचार्यों की भाँति अलंकार को काव्य की आत्मा का स्वरूप नहीं मिल पाया है। केवल इनकी संख्या-वृद्धि को छोड़कर वस्तुतः इन आचार्यों द्वारा कोई भी नवीनता प्रतिपादित नहीं हो पायी है। अस्पष्ट रूप में अलंकारवादी परम्परा का अनुसरण करते हुए भी इन आचार्यों ने अपने को और पाठकों को सर्वदा भ्रम में रखने का प्रयत्न ही किया है। इस परम्परा को किसी सम्प्रदाय के समकक्ष हम नहीं रख सकते वरन् आजकल के व्यावहारिक नोट जैसा ही कह सकते हैं, जिन्हें विद्यार्थीवर्ग परीक्षा के लिए तैयार करता है। लक्षण और उदाहरण को यह परम्परा केवल याद करने की सुविधा-मात्र प्रदान करती है, किसी काव्यात्मक निर्णय तक नहीं पहुँचाती। इस परम्परा के अन्तर्गत कुछ कवि तो ऐसे भी मिलते हैं जिन्हें आचार्य बनने का मोह-मात्र रहा है जिसके लिए कवित्व भी हाथ से छूट गया है। भूषण का 'सिवराजभूषण' इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

प्राचीन आचार्यों की भाँति रीतिकाल में भी गुण, दोष, रीति, शब्द, शक्ति आदि तत्त्वों पर विचार किया गया है पर यह विवेचन अपेक्षाकृत अधूरा-सा लगता है। शब्द-शक्ति की ओर तो सतर्कता के साथ कुछ इने-गिने आचार्यों ने ही देखा है। दास, सोमनाथ, प्रतापसाहि, तथा सरदार कवि आदि ने ही इसका कुछ विशेष वर्णन किया है। निश्चय ही इसके पीछे स्पष्टतः मम्मट के स्वर बोलते हैं। गुण की परम्परागत विचारधारा भी मिलती है और साथ ही नवीन विवेचन भी। काव्य-निर्णय में प्राचीन संस्कृत के आचार्यों द्वारा मान्य दश गुणों की विवेचना की गयी है, पर अन्त में निष्कर्ष निकालते हुए दास कवि ने प्रसाद, माधुर्य और ओज का ही निरूपण किया है। दास की परिभाषा से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि वे मम्मट की प्रौढ़ता का निर्वाह नहीं कर पाये हैं।

काव्यांगों एवं काव्य-विभेद पर रीतिकाल में बहुत कम लिखा गया है। यदि यत्र-तत्र कहीं कुछ उल्लेख मिल भी जाता है तो अन्य तत्त्वों की भाँति यहाँ भी केवल अनुकरण मात्र मिलता है। काव्यप्रकाश एक प्रकार से इन आचार्यों के लिए संकेत-ग्रन्थ बन सा गया है। यदि काव्य-भेद के विषय में कुछ मिलता है तो वह श्रव्य-काव्य के विषय में है। संस्कृत-साहित्य में प्राप्त दृश्यकाव्य-विवेचन की पूर्णतः उपेक्षा की गयी है। वस्तुतः इस युग में दृश्यकाव्य की कोई भी ऐसी कृति नहीं मिलती जिसे हम अपवाद-स्वरूप भी स्वीकार कर सकें। इसका मुख्य कारण यह है कि रीति-युग की काव्य-चेतना काव्य-रचना, विधि एवं संयम को सरल कर देने की रही है। साधारण ज्ञान एवं सामान्य स्तर से किसी प्रकार ये आचार्य अपने को ऊपर नहीं उठा पाये हैं। अध्ययन के अधकचरेपन के कारण ही गद्य का स्वरूप उपेक्षित रहा है। वस्तुतः रीतिकालीन आचार्यों ने गद्य को काव्य की मान्य विधाओं में स्वीकार ही नहीं किया है। स्पष्ट कहा जा सकता है कि परम्परागत अलंकार-विवेचन, छन्द-निरूपण, तथा नायिका-भेद एवं नख-शिख-वर्णन के अतिरिक्त इन आचार्यों के हाथ, अध्ययन के नाम पर, मौलिकता के नाम पर, कुछ भी नहीं लगा है। गद्य के अतिरिक्त आख्यायिका, प्रबन्ध-काव्य, खण्डकाव्य आदि साहित्यिक विधाएँ भी अछूती रह गई हैं।

रीतिकालीन साहित्य को देखने से हमारे सामने दो समस्याएँ स्पष्ट हो जाती हैं कि प्राचीन संस्कृत-साहित्य के रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदाय समाप्त प्राय हो गये थे। गद्य के अभाव में प्रौढ़ चिन्तन की कमी आ जाना पूर्णतः संभव है। रह जाता है रस, ध्वनि और अलंकार-सम्प्रदाय। उसमें भी ध्वनि-सम्प्रदाय का विकास अवरोद्ध हो गया है। उसे भी रस का सहयोगी मान कर उसी में समाविष्ट कर लिया गया है। रस और अलंकार की मान्यता की रेखा समानान्तर चल रही है। इस कारण रीति-कालीन आचार्यों को न तो पूर्णतः रसवादी कहा जा सकता है और न अलंकार-वादी ही। मूलतः हम किसी भी आचार्य को किसी सम्प्रदाय का पोषक नहीं कह सकते। रीतिकालीन सभी आचार्यों में केवल तीन ऐसे मिलते हैं जिनका अध्ययन किसी सीमा तक काव्य-सामान्य से सम्बन्धित किया जा सकता है और उसे सिद्धान्त और सम्प्रदाय का नाम मिल सकता है। वे हैं—केशव, दास और देव; तथा उनके सिद्धान्त, अलंकार, रसध्वनि तथा रस-सिद्धान्त के नाम से पुकारे जा सकते हैं।

रीतिकालीन प्राप्त साहित्य एवं प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि रीतिकालीन काव्यगत दृष्टिकोण किसी प्रकार समीक्षा-साहित्य को प्रगति देने में असफल रहा है। इसके दो कारण स्पष्ट हैं : पहला कारण तो उसमें मौलिकता की कमी है जिसके मूल में अध्ययन, प्रौढ़-चिन्तन तथा सामाजिक स्थिति भी आ जाती है। रीतिकालीन कवि या आचार्य को आचार्यत्व का मोह तो है, पर रोटी की छीना-

भूपटी का प्रश्न भी उपेक्षणीय नहीं है। ये आचार्य संस्कृत के आचार्यों की भाँति स्वतन्त्र नहीं हैं और साथ ही इन्हें उनकी भाँति स्वतन्त्र:मुख्याय साहित्य-निर्माण करना भी नहीं था। आश्रयदाताओं की छत्र-छाया में पसी हुई कविता-कामिनी स्वभावतः विलास-प्रकृति-प्रधान एवं एकांगी चिन्तन पर आधारित हो गयी है। यह सबसे बड़ा तत्त्व है, जिसके कारण भी इन आचार्यों में मौलिक उद्भावनाओं की कमी दीख पड़ती है। सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ साहित्य की चिन्तनधारा को बदल सकती हैं, और सर्वदा बदलती आयी हैं।

दूसरी बात यह है कि संस्कृत की प्राचीन पद्धति अपनाने से, किसी प्रकार भी समीक्षा-सिद्धान्त विकसित नहीं हो पाये हैं जिसके मूल में हिन्दी की सामान्य प्रवृत्ति की उपेक्षा है। कवि अतीत का चिन्तन नहीं करना चाहता है, और न बह चाहता है वर्तमान को समेटना। ऐसी अवस्था में उसकी अन्तर्भूत काव्य-प्रेरणा ही काम कर सकती है। काव्यानुशीलन की कमी भी साहित्यकार के लिए सबसे बड़ी कमी होती है।

रीतिकालीन समस्त समीक्षा-साहित्य पर एक साथ ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकाल में संस्कृत की प्रयोगात्मक आलोचना की पद्धतियाँ अपनायी गई हैं। १. स्फुट छन्दों में विशेष वर्णन; २. अस्पष्ट ढंग से, सिद्धान्त-ग्रन्थों के माध्यम से कवि की आलोचना; तथा ३. टीकाएँ साथ ही इनको देखकर यह कभी भी नहीं कहा जा सकता कि रीतिकालीन आचार्यों की आलोचनात्मक दृष्टि पैनी थी, परिष्कृत थी। और न यही कहा जा सकता है कि समीक्षा का विकास भी हुआ है। हाँ, कुछ लोगों ने सूक्ति रूप में किन्हीं-किन्हीं कवियों की प्रशंसा की है। उन सूक्तियों में अवश्य ही एक दृष्टिकोण प्रतिपादित होता है, और जहाँ नवीनता का आभास मिलता है वह है तुलनात्मक दृष्टिकोण। तीन-चार कवियों को एक साथ लेकर उनकी सामान्य विशेषताओं में परस्पर तुलना करने की प्रवृत्ति इस समय अवश्य मिलती है, जिसे इस युग की देन कह सकते हैं। सरदार कवि के मानस-रहस्य में आलोचनात्मक चेतना भली प्रकार विकासशील है, उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस सम्पूर्ण युग में यह एक अकेला ग्रन्थ है जिसमें समीक्षा का स्वरूप कुछ स्पष्ट एवं निखरा हुआ है। संक्षेप में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि रीतिकालीन बुद्धि-शैथिल्य के कारण समीक्षा जैसी चिन्तन की बात सम्भव नहीं हो सकी है।

हिन्दी आलोचना की बदलती हुई दिशा

पिछले दो अध्यायों में यह स्पष्ट हो गया है कि हिन्दी को अधिकांशतः संस्कृत से ही पैतृक सम्पत्ति के रूप में जो कुछ मिला है, इसी के आधार पर आगे बढ़ना हो रहा है। समीक्षा-शास्त्र में संस्कृत के पदचिह्नों पर ही हिन्दी का रीतिकाल चल सका है। यद्यपि इसमें छन्द, रस और भाषासम्बन्धी कुछ प्रयोग अवश्य हुए हैं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि इस युग के आचार्यों को केवल आचार्यत्व का ही मोह था। वस्तुतः वे कवि थे; पर इस मोह ने उन्हें कहीं का भी नहीं रहने दिया है। इसके अतिरिक्त आश्रय और आश्रयदाताओं का भी प्रश्न इसी के साथ लगा हुआ है। कवि को अपने भरण-पोषण के लिए किसी का आश्रय अपेक्षित था और आश्रयदाता को प्रसन्न किये बिना भविष्य संरक्षित नहीं हो सकता था। अतः इन कवियों के सामने बागविलास के अतिरिक्त और रह ही क्या गया था। सामाजिक परिस्थितियाँ एक निश्चित गति से प्रगतिशील थीं। किसी प्रकार का राजनैतिक उथल-पुथल था नहीं, अतः विलास की भावना को बढ़ाने के अतिरिक्त और रास्ता ही क्या रह गया था जिस पर ये कवि प्रयोग करते। मुक्तक छन्दों एवं शृङ्गार-विवेचन के अतिरिक्त कहीं कोई स्थान ऐसा आया ही नहीं जब कि आचार्य के रूप में कवि के व्यक्तित्व को उभरने का मौका मिल सके। कवि, भावना का पोषक होता है और आचार्य प्रौढ़ चिन्तन की देन। आचार्य के लिए प्रौढ़-चिन्तन के साथ ही तर्कों तथा तत्सम्बन्धी औचित्य की भी आवश्यकता होती है। मूलतः रीतियुगीन आचार्य भी भावुक कवि ही था, ऐसा ऊपर बताया गया है। उसके लिए यह कभी भी संभव नहीं हो सका कि वह अपने को अध्ययन, चिन्तन एवं विवेचन में लगा सके। इतना ही नहीं, वरन् यह भी स्पष्ट परिलक्षित होता है कि संस्कृत से प्राप्त सम्पत्ति का भी सदुपयोग इन से नहीं हो पाया है। यदि केशव, दास आदि द्वारा कुछ विवेचन हो गया है तो वह केवल बौद्धिक व्यायाम मात्र एवं परम्परानुसरण ही कहा जा सकता है।

मुसलमानों ने इसी देश में रह कर मूलतः देश की संस्कृति के समूल विनाश का क्रियात्मक प्रयोग किया है जिसका साहित्यिक रूप रीतियुगीन विलास-साहित्य है। राजनीति ने पलटा खाया, मुगल बादशाहों के अन्तिम दिन आये। धीरे-धीरे देश की बागडोर अंग्रेजों के हाथ में आ गयी। इस संक्रांति-युग में जनता में थोड़ी चेतना आयी। राज्य-परिवर्तन ने लोगों को सचेत तो कर दिया पर वस्तुतः साहित्यिकों के

पास अपना कुछ था ही नहीं, जिसमें नव जागरण का स्वप्न स्वरूप पाता । मानसिक आघात अवश्य हुए, पर उनका तत्कालीन परिणाम कुछ भी न निकल सका । इतना स्पष्ट हो गया कि हम विलासी जीवन से निकल कर कार्यक्षेत्र में आ रहे हैं । राज्य की नई व्यवस्था ने भी समय और परिस्थितियों का अच्छा फायदा उठाना चाहा । पाश्चात्य नई राज्य-व्यवस्था के साथ, पाश्चात्य विचार-धारा का स्वागत भारतीय जनता ने किया । उसे पहली बार यह महसूस हुआ कि उसे स्वच्छन्द वातावरण में साँस लेने का हक है । समाज की रूढ़िवादी और नवीन परम्पराओं में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई । एक बार यह प्रयास भी हुआ कि पाश्चात्य विचार-धारा को समूल उखाड़ फेंका जाय पर सन् १८५७ के सिपाही-विद्रोह के दमन के साथ ही हम इस क्षेत्र में भी विजित हुए । अब हम धीरे-धीरे 'मानसिक दासता' भी स्वीकार करने लगे । परिणाम उतना बुरा नहीं हुआ जितना कि सोचा गया था; वरन् हमें अपने को पहचानने की वह शक्ति मिल गयी जिससे देश का साहित्य विश्व के अन्य आधुनिक साहित्यों के साथ कदम में कदम मिला कर चलने की क्षमता प्राप्त कर सका ।

यह सही है कि अंग्रेजों ने अपना कार्य चलाने और हमें मानसिक दास बनाने के लिए ही अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाया था पर यहाँ वे असफल रहे हैं । उनकी देख-रेख और अनुशासन में पला हुआ सतर्क भारतीय देश की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि के प्रयास करने लगा । साथ ही साहित्य-क्षेत्र में भी, भारतीय साहित्य का अध्ययन नये पाश्चात्य विचारों से होने लगा । मूल्यांकन के नये मापदण्ड बनाये गये । नई रोशनी में, नये मापदण्डों से मूल्यांकित भारतीय साहित्य अविकसित मालूम होने लगा । इसका परिणाम हुआ कि हमारे साहित्यिकों में दो वर्ग हो गये । एक वर्ग अतीत की सम्पत्ति की ओर आकर्षित हुआ और दूसरा पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण की ओर । दोनों वर्गों में एक विशेष साहित्यिक चेतना दिखायी देने लगी ।

नवीनता के नाम पर पाश्चात्य साहित्य और कला के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय भी अपने प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करने लगे । अनुकरण की प्रवृत्ति की सबसे बड़ी देन साहित्यिक नवीन विधाओं का प्रयोग है जिसमें आलोचना का प्रारम्भ तो पूर्णतः नई वस्तु है । संस्कृत-समीक्षा-सिद्धान्त और रीति-परम्परा से दूर होकर, समाज की समतल भूमि पर, कवि या लेखक की कृति को मानव की कृति मान कर, उसका परीक्षण होने लगा । उसमें मानव की कमजोरियाँ देखी जाने लगीं । उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रारम्भ हो गया । वस्तुतः समीक्षा के क्षेत्र में यह समूल परिवर्तन है ।

धीरे-धीरे कल्पना का युग बीतने लगा, रीतिकालीन विलासिता विनष्ट हो गयी । नित्यप्रति की दैनिक समस्याएँ सामने पहाड़ जैसी बनने लगीं । भावना का

अंचल छूटने लगा। यवन-दासता का घाव अभी हरा ही था कि अंग्रेजों ने भी हलकी सी मसलन लगा दी। साहित्यकार मन मसोस कर रह गया पर उसकी अन्तर्ज्वाला भभक उठी। चिनगारियाँ सत्ता के प्रभुत्व में दबा तो दी गयीं पर उन्हें सत्ता की जंजीर बाँध न सकी। अंग्रेज शासक बन गये और सम्मिलित हिन्दुस्तानी दास। फिर भी दोनों के बीच परिस्थितियों से दबे हुए वे अंगारे थे, जो अब भी बुझे नहीं थे। जिस भाषा का प्रसार अंग्रेजों ने दासता को मजबूत करने के उद्देश्य से किया था वही उनके लिए यहाँ से जाने को बाध्य भी कर सकी। लार्ड विलियम बैंटिक के द्वारा किये गये शिक्षा-सुधारों में अंग्रेजी के साथ ही भारतीय प्रादेशिक भाषाओं को भी मान्यता मिली थी। पाठ्यक्रम में स्थान-प्राप्त कई विषयों में हिन्दी भी थी। यद्यपि घरेलू विरोधों एवं संघर्षों के बीच उसका पनपना कठिन अवश्य हो गया था फिर भी जनता की भाषा होने से विरोधों से भी उसे प्रगति ही मिलती गयी। अंग्रेजों ने भी परोक्ष रूप में उसे प्रोत्साहन दिया। फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था तथा सरकार द्वारा उसकी स्वीकृति ने हिन्दी को जनता में सबल बना दिया। पठन-पाठन की प्राचीन पद्धति में पूर्णतः अन्तर आ गया। अंग्रेजी, संस्कृत और हिन्दी में साथ-साथ अध्ययन ने सतर्क प्राध्यापकों को सचेत किया कि आधुनिक युग के साथ यदि हिन्दी को चलना है तो उसे पाश्चात्य ढंग से, अपनी प्राचीनता को परख करनी पड़ेगी। इन साहित्यकारों के हाथों से कविता की भावनात्मक पृष्ठभूमि जा चुकी थी। विचारों के समानान्तर शब्दों की कमी भी अखरने लगी। हो सकता है कि इस कमी का कारण अध्ययन की कमी रही हो जैसा कि संकेत रीतियुग में ही मिलने लगा है। साथ ही, सभी तो कवि नहीं हो सकते, पर विचार किसी के सन्तुलित एवं अध्ययनशील मस्तिष्क में उठ सकते हैं। क्रियाशील मनोवेगों में मनुष्य का व्यक्तित्व उभरता है और उसके समुचित विकास के लिए भावों के अनुकूल एवं मनोविज्ञान के समानान्तर शब्दों की आवश्यकता होती है। परम्परा से चली आयी काव्य-भाषा में सब कुछ कहना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव दिखाई देने लगा। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन ने विचारकों के मस्तिष्क में तुलनात्मक दृष्टिकोण का विकास किया। अनिवार्य था कि पद्य का स्थान गद्य ले ले, क्योंकि जिस गति से विचारों का विकास हो रहा था, कविता उसके साथ नहीं चल सकती थी। अपने विचारों को ज्यों का त्यों रख देने के लिए गद्य सर्वथा उपयुक्त है। अनिवार्यतः हिन्दी के प्राध्यापक एवं साहित्यकारों ने अपने विचारों को सामने रखने के लिए गद्य का सहारा लिया। अंग्रेजी के अध्ययन के कारण इन प्राध्यापकों को हिन्दी में समीक्षा की कमी अखरने लगी। उनके भीतर का साहित्यकार बार-बार मचल उठता था कि वह भी अपने साहित्य को प्रौढ़ चिन्तनपूर्ण आलोचना से पूरी करे। इसके लिए पाश्चात्य आलोचना के अनुकरण को छोड़ कर उसके सामने और कोई मार्ग न था। शैली और सिद्धान्त अपनाते हुए भी हिन्दी का साहित्यकार परम्पराओं

से दूर नहीं जाना चाहता था। संस्कृत की अपार-अगाध राशि से दूर जाना उसे कभी भी स्वीकार नहीं था, यद्यपि प्रयोगात्मक आलोचना का स्वरूप भी उसे ग्रहण करना था। 'सामंजस्य' भारत की सबसे बड़ी शक्ति है। यहाँ भी, उसी से साहित्य की नवीनतम समस्याओं को मुलभाया गया। शैली पाश्चात्य स्वीकृत की गयी और सिद्धान्त भारतीय। सिद्धान्तों के विषय में हिन्दी-साहित्यकारों ने बड़े ही उदारतापूर्ण दृष्टिकोण का परिचय दिया है। संस्कृत-सिद्धान्तों की अमूल्य निधि के स्वामी होते हुए भी इन साहित्यकारों ने, आवश्यकतानुसार तथा परिस्थिति की माँग पहचानते हुए कुछ पाश्चात्य सिद्धान्तों को अपनाने में किसी प्रकार की हिचक नहीं दिखाई है। ऐसे स्थानों पर थोड़ा-सा अविवेक अवश्य ही उभर गया है। पाश्चात्य सिद्धान्तों की नवीनता के मोह ने कुछेक साहित्यकारों को इस तरह अपनी ओर आकर्षित कर लिया है कि काव्य-सामान्य-चिन्तन का स्थान और समीक्षा के नवीन दृष्टिकोण के विकास का स्थान, पाश्चात्य सिद्धान्तों के अनुकरण एवं अनुवादों ने ले लिया है। भारतेन्दु-युग से द्विवेदी-युग तक की ऐसी ही परिस्थिति है।

हम इसकी उपेक्षा कदापि नहीं कर सकते कि आधुनिक साहित्य के विकास में समाचारपत्रों का, अन्य साधनों की अपेक्षा, विशेष हाथ रहा है। वस्तुतः इनके द्वारा साहित्यकारों को प्रेरणा एवं उत्साह मिला है। यह भी कहा जाता है कि अध्ययन की कमी आने के मूल कारणों में समाचारपत्रों के माध्यम से विचारों का मिलना है, पर यह विचार बहुत संयत नहीं कहा जा सकता क्योंकि रीतिकालीन युग में समाचारपत्रों की रूपरेखा ही न थी और अध्ययन प्रायः शून्य सा दिखाई पड़ता है, समाचारपत्रों का प्रकाशन विचारधाराओं के प्रसार के लिए होता है, इसके पीछे राजनीति अधिक होती है, प्रचार-व्यवस्था अधिक होती है, साहित्य कम। फिर भी पाठक की विचार-धाराओं में एक सन्तुलन अवश्य आ जाता है, इसे तो मानना ही पड़ेगा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हिन्दी-समाचारपत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया। मुद्रण-कला में भी विकास हुआ, उसके वैज्ञानिक साधन सुलभ हो गये। परिणामस्वरूप समाचार-पत्रों के साथ पुस्तकें भी हमारे सामने आयीं। अब यह समस्या उठ खड़ी हुई कि इन पुस्तकों को जनता तक कैसे पहुँचाया जाय। समाचारपत्र इनके परिचय का माध्यम बने। अंग्रेजी समाचारपत्रों की भाँति हिन्दी में भी पुस्तकों की समीक्षा आने लगी। इस समीक्षा में पुस्तक के बाह्य रूप तथा प्रतिपाद्य विषय पर थोड़ा-बहुत विचार प्रकट किया जाता रहा है। इस 'पुस्तक-समीक्षा' का स्वरूप भारतेन्दु के समय से ही हमें मिलने लगता है। इसका परिणाम यह हुआ कि पाठकों की संख्या बढ़ने लगी, पुस्तकों का प्रकाशन बढ़ने लगा और साथ ही साथ नवीन समीक्षा-पद्धति का अंकुर भी बढ़ने लगा। पाठ्य सामग्री इतनी तीव्र गति से बढ़ने लगी कि पाठकों के सामने एक

समस्या आ गयी। विवेक, तर्क, त्याग और ग्रहण के सरल एवं सहज तरीके को छोड़ कर अब उसके पास कोई भी दूसरा रास्ता न था कि वह उसे अपनी सुविधा, समय, धन एवं प्रवृत्ति के अनुसार अपनाये। वस्तु एवं विषय की उपयोगिता का मूल्य बढ़ने लगा और मूल्यांकन की इस प्रवृत्ति में ही आधुनिक समीक्षा का मूल रूप निहित है। जिस तीव्र गति से साहित्य बढ़ रहा था, उसे देख कर पाठक और साहित्यकार दोनों शक्ति होने लगे कि इस बढ़ते हुए साहित्य का रास्ता ही, अनपेक्षित साहित्य के कारण न रुक जाय। यह भी एक कारण है कि गुण-दोष-विवेचन एवं सतर्कता नवीन साहित्य-कारों में आ गयी। यद्यपि प्रारम्भ में इस प्रवृत्ति में, संयत सन्तुलन नहीं है, और आलोचक को एकांकी विचारों का आश्रय लेना पड़ा है, फिर भी यह संकेत मिलने लगता है कि साहित्यिक चेतना के अन्तर्गत आधुनिक साहित्य की एक कसौटी तैयार की जा रही है, जो बहुत-कुछ पाश्चात्य साँचे में ढाले गये प्राचीन सिद्धान्तों का रेखा-चित्र मात्र है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि देश में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक सभी क्षेत्रों में एक ऐसी चेतना कार्य कर रही है जिसका उद्देश्य आमूल परिवर्तन है। समीक्षा-क्षेत्र में तो पूर्णतः नवीनता प्रतिपादित हुई है। प्राचीन परम्परा से प्राप्त, समीक्षा-सिद्धान्तों पर आधारित शास्त्रीय आलोचनात्मक प्रवृत्ति ने प्रयोगात्मक आलोचना का स्वरूप ले लिया है। अब यहाँ साहित्यिक कृति पर जीवन की दृष्टि से विचार होने लगा, केवल काव्य-सामान्य-रूढ़ियाँ ही नहीं रह गयी हैं। अलंकार, छन्द, रस, शब्द-शक्ति, वक्रोक्ति अथवा ध्वनि-विवेचन का स्थान, परिस्थितियों के प्रभाव, कलाकार के उद्देश्य, व्यक्तित्व तथा सामान्य मूल्यों के विवेचन ने ले लिया है। इससे भी आगे बढ़कर आधुनिक हिन्दी के विद्वानों ने प्राचीन समीक्षा-शास्त्र के मूल तत्त्वों का विश्लेषण मनोविज्ञान के आधार पर करना प्रारम्भ कर दिया है। फलतः हमारे सामने एक मिश्रित रूप आया है जिसमें प्राचीन प्रणाली तथा नवीन विचारधारा का सम्मिश्रण है।

जीवन की समतल भूमि पर आने का प्रयास भी साहित्यिक कलाकृतियों में स्पष्ट है। वस्तुतः अब उन्हें स्वर्गिक कल्पना और आदर्शवादिता कुछ-कुछ रूखी-सी लगने लगी और संघर्षों के परिणामस्वरूप यथार्थ का दृष्टिकोण प्रभुत्व पाने लगा है। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन, विचारों के आदान-प्रदान तथा उनके दृष्टिकोण का प्रतिपादन ही प्रमुखतः आधुनिक समीक्षक का दृष्टिकोण बनता गया है। इस प्रकार की प्रवृत्ति के मूल में हमें राजनीतिक बाह्य चेतना भी कार्य करती हुई दिखायी देती है। दासता की जंजीरों में जंग लग गया था, उसे तोड़ देने के लिए प्रत्येक भारतीय का अन्तर व्याकुल था। विदेशी साहित्य में, जो उदाहरण के रूप में हमारे सामने आया, वहाँ के समाज की

समकालीन क्रान्तियाँ बोल रही थीं। रीतिकाल की दी हुई विलास-भावना से पूर्ण साहित्यकार को अपने प्रति बड़ा क्षोभ था, उसे योरोपीय क्रान्तियों का साहित्य मिला। उसकी अन्तरात्मा चेतन हो उठी। भुज-पाशों के बन्धन ढीले पड़ने लगे। शब्द-शक्तियों एवं अलंकारों का कार्य परिस्थितियों के अनुकूल अंगार बनने का हो गया। तुलनात्मक प्रवृत्ति का विकास हुआ। हम क्या थे, और क्या हैं; साहित्य की दृष्टि यहाँ पर ही स्थिर हुई। संक्रान्ति का यह समय आधुनिक समीक्षक को जन्म दे पाया, जिसमें तुलनात्मक आलोचना विकसित हुई है। प्रौढ़ शास्त्रीय आलोचनात्मक चिन्तन ने, जीवन की समतल भूमि पर आकर, प्रयोगात्मक आलोचना का रूप ले लिया है।

यों तो भारतेन्दु-युग में ही इस समीक्षा का स्वरूप मिलने लगा है पर प्रौढ़ नहीं हो पाया था। इस समय एक विशेष रूप समीक्षा-साहित्य में मिलने लगा है जिसे साहित्यकारों ने पहली बार अनुभव किया है। वह है पुस्तक-विशेष, कवि-विशेष या भावना-विशेष की आलोचना की प्रवृत्ति। रीतिकाल के अन्तिम दिनों में 'मानस-रहस्य' नाम की एक रचना मिल चुकी है पर उसमें शास्त्रीयता अधिक रही है। नव अंकुरित समीक्षा की इस शैली का विचार-केन्द्र मानस हो रहा है। यद्यपि प्रयास किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति का रहा है पर आलोचना का स्वरूप स्वयं स्पष्ट हो गया है। दार्शनिक विचारों एवं भक्ति का विवेचन करते हुए साहित्यकारों की समीक्षात्मक प्रवृत्ति निखर आयी है। कुछ लोग यह मानते हैं कि इस प्रकार की समीक्षा-पद्धति के तत्त्व पहले से ही भारतीय साहित्य में थे, केवल उनका समुचित विकास नहीं हुआ था। इस प्रकार का विश्लेषण या तर्क मानसिक सन्तुष्टि के लिए बड़ा अच्छा है पर वास्तव में इसे मिथ्या प्रलाप-मात्र कहा जा सकता है। तथ्य तो यह है कि आलोचना की आधुनिक पद्धति मूलतः पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन, मनन एवं अनुकरण की देन है, इसे अस्वीकार करना सत्य को उपेक्षा करना है। मैं भी मानता हूँ कि भारतीय साहित्य में समीक्षा की सन्तुलित व्याख्या थी, प्रौढ़ चिन्तन था, शास्त्रीयता थी; पर प्रयोगात्मकता और जीवन-गत दृष्टिकोण से साहित्य का विश्लेषण अवश्य ही हमने पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण से सीखा है। हाँ, इतना निःसन्देह स्वीकार किया जा सकता है कि बौद्धिक जागृति के साथ ही समीक्षात्मक प्रवृत्ति ने नया रूप ले लिया है, जो पाश्चात्य ढंग का है।

भारतेन्दु-युग इसी संक्रान्ति का युग है। प्राचीनता का मोह साहित्यकार को एक ओर खींच रहा है और नवीनता का आग्रह दूसरी ओर। रीतिकाल के दलदल से अभी-अभी वह निकल रहा है साथ ही वह नवीनता एवं पाश्चात्य अध्ययन पर आधारित कठोर शिला पर चढ़ जाना चाहता है। इस युग की समस्त समीक्षा का विकास-क्रम पुस्तक-विज्ञान से लेकर कलाकृति की स्वतन्त्र विवेचना तक रहा है। इन प्रवृत्तियों एवं विकास-स्थलों के माध्यम से गुण-दोष-विवेचन, काव्य-सामान्य का अस्पष्ट रूप,

कलाकार का स्वरूप, उद्देश्य तथा मूल्यांकन हमारे सामने आता है। सबसे प्रमुख तत्त्व यह कहा जा सकता है कि आलोचक में गम्भीरता आ रही थी और वह उसकी स्वाभाविकता का रूप धारण कर रही थी। धीरे-धीरे विज्ञापनों ने शुद्ध समीक्षा का रूप ले लिया है। श्री भट्टजी तथा प्रेमघनजी द्वारा पुस्तक-परिचय आधुनिक आलोचना के मूलभूत आधार के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। इस युग के आलोचकों में एक विशेष प्रवृत्ति भी काम कर रही थी, और जिसके आधार पर हम आलोचकों का स्वरूप स्पष्ट कर पाते हैं, वह थी उनकी निष्पक्षता। बड़े ही निष्पक्ष ढंग से, दोषों एवं गुणों का संकेत करता हुआ तत्कालीन आलोचक अपने कठोर कर्तव्यों का पालन करता है। इससे भी थोड़ा आगे आकर अब आलोचक पुस्तक-परिचय से कवि या साहित्यकार के परिचय तक पहुँचने लगा है। आधुनिक एवं प्राचीन आचार्यों के जीवन-चरित उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर प्रकाशित किये गये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि धीरे-धीरे आलोचक का सच्चा स्वरूप विकसित हो रहा था। इससे पहले वाले युग (रीतियुग) में सैद्धान्तिक निरूपण प्रमुख रहा है। इस कारण अचानक ही, उस परम्परा का लोप हो जाना सम्भव नहीं है। जैसा कि ऊपर बताया गया है यह युग एक संक्रान्ति का युग है, इसमें रीतिकालीन सिद्धान्त-निरूपण एवं नवीनता, दोनों का सम्मिश्रण है। एक ओर तो नवीनता का प्रतिपादन हो रहा था और दूसरी ओर रीतिकालीन सिद्धान्त-निरूपण की परम्परा का विकास भी। यहाँ तक भारतेन्दु तथा भट्टजी आदि ने भी, जिनमें नवीन आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्रमुख था; नाटक, काव्य आदि का सैद्धान्तिक स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। तत्कालीन पत्रिकाओं में प्रकाशित किसी कृति की आलोचना में नवीनता के साथ-साथ इन तत्त्वों की भी परीक्षा होती थी। इस प्रकार सामंजस्य की प्रवृत्ति का विकास भी इस युग की देन है।

साहित्य-संचालन की बागडोर इस सम्पूर्ण युग में भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों के ही हाथों में रही है। आलोचना एवं साहित्यिक अंकुश प्रधानतः भारतेन्दु, भट्ट तथा प्रेमघन के ही हाथों में था। हिन्दी-साहित्य में किसी भी कलाकृति की साहित्यिक विवेचना सबसे पहले प्रेमघन ने की है। यद्यपि यह आलोचना विशुद्ध नहीं हो पायी है पर साहित्यिक विश्लेषण अवश्य ही है और पूर्ववर्ती आलोचकों से पूर्णतः भिन्न है। व्यक्तिगत रूप में भारतेन्दु-साहित्य में भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों का प्रतिपादन अवश्य हुआ है। इन्हीं के आधार पर साहित्यिक अध्ययन इनकी विशेषता है। साथ ही भारतेन्दु ने साहित्य की चिरन्तनता, काव्य-सौष्ठव तथा जीवनगत दृष्टिकोणों का भी आधार अपनी आलोचना में लिया है। भारतेन्दु को साहित्य-निर्माण के साथ ही समालोचक की दृष्टि से भी अग्रदूत मानना चाहिए, क्योंकि नवविकसित विज्ञापन की प्रणाली की अपेक्षा इनका ध्यान साहित्यिक विशेषताओं के विश्लेषण पर ही था। अन्य दो

प्राचीनकों ने अंग्रेजी से प्रातः प्रयोगात्मक आलोचना की शैली में प्राचीन सिद्धान्तों का विश्लेषण करना चाहा है। इनकी आलोचना-शैली की विशेषता है कि वे अपनी समीक्षा के सूत्रों का उल्लेख पहले कर देते हैं, जिन्हें स्वीकार करते हुए किसी कलाकृति को, या किसी साहित्यकार की विशेषताओं की विवेचना करते हैं। मट्टजी की शैली में साहित्यिक विचारधाराओं की खोज के साथ ही बड़ी चुभती चुटकियाँ लेने की प्रवृत्ति है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युग में आलोचना की पृष्ठभूमि बन सकी है, जब हमें आधुनिक दृष्टिकोण के अंकुरमात्र मिलने लगते हैं। उन तत्त्वों का अस्पष्ट स्वरूप अवश्य मिलने लगता है, जिनका सम्बल लेकर आधुनिक समालोचना खड़ी हो पायी है।

इन्हीं के साथ भारतेन्दुकालीन समीक्षा-साहित्य पर भी विचार कर लेना चाहिए। पहले संकेत किया जा चुका है कि इस युग में दोनों ही प्रवृत्तियाँ विकासशील थीं। परम्परागत प्राचीन सिद्धान्तों के निरूपण की पद्धति भी प्रचलित थी और पाश्चात्य साहित्यिक चेतना की देन नवीन प्रयोगात्मक प्रणाली भी। कुछ में दोनों का सम्मिश्रण भी पाया जाता है। पृष्ठभूमि के रूप में 'मानस-रहस्य' रीतिकाल के अन्तिम दिनों की देन है। भारतेन्दु-युग में, प्रारम्भिक तीन कृतियों का विषय तो यही बना रहा है, पर साहित्यिक सचेतनता अवश्य ही निखर उठी है। ये तीनों रचनाएँ 'मानस-मयंक', 'मानस-तत्त्व-प्रबोधिनी' और 'मानस-शंकावली' हैं। वस्तुतः इन तीनों कृतियों को आलोचना या समीक्षा-साहित्य न कह कर टीका-साहित्य कहना अधिक उपयुक्त है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य की टीका-परम्परा के अनुकूल ही ये ग्रन्थ प्रस्तुत किये गये हैं पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि इनमें शैलीगत मौलिकता का नितान्त अभाव है। विषय-प्रतिपादन एवं विश्लेषणों को देखकर तो कोई-कोई लोग यहाँ तक कह देते हैं कि टीकाओं में मूल पाठ होने की गंध आती है। वे इतनी क्लिष्ट हो गयी हैं कि मानस ही उनसे सरल मालूम होने लगता है। मानस-मयंक में विश्लेषण की पद्धति अपनायी गयी है। यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि तुलसी उसी भक्ति-परम्परा के हैं जो सिद्धान्ततः परम्पराओं से चली आ रही है और उनके विचार वैष्णव भक्ति के आचार्यों से प्रभावित हैं। दर्शन और भक्ति की सतत विकासशील परम्परा में तुलसी वह कड़ी है जिसके न होने से सम्भवतः भक्ति को लौकिक मान्यता न मिल सकी होती। इस विवेचन से तुलसी का भक्त और दार्शनिक रूप उनके अन्तर्साहित्यिक स्वरूप से कहीं अधिक निखर गया है। हम इसे मानसिक व्यायाम-मात्र स्वीकार कर सकते हैं। वस्तुस्थिति इससे कुछ भिन्न है, वे साहित्यिक पहले हैं और कवि या दार्शनिक बाद में।

समीक्षा-साहित्य के प्रारम्भिक रूप में समाचारपत्रों का भी अधिक सहयोग रहा है। योरोपीय अनुकरण पर समाचारपत्रों में 'नया साहित्य' या 'पुस्तक-परिचय' नामक स्तम्भ निकलना प्रारम्भ हुआ जो आगे चल कर स्वतंत्र पुस्तकों के रूप में विकसित

हो गया । किसी कृति अथवा किसी कवि की पूर्ण परख करने की प्रवृत्ति चल पड़ी है । आज आलोचना का अधिकांश साहित्य इसी प्रवृत्ति की देन है । भारतेन्दु-युग में 'हरिश्चन्द्र भैरवी', 'आनन्द-कादम्बिनी', 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका', 'कवि-वचन-मुधा' ने साहित्य-समीक्षा में अत्यधिक योग दिया है । इनमें प्रायः ऐसे निबन्ध प्रकाशित होते रहे हैं जिनमें साहित्यिक चेतना निरन्तर अधिक स्पष्ट होती गयी है । हिन्दी-प्रदीप का सहयोग भी किसी प्रकार समीक्षा-साहित्य का विकास देखते हुए, भुलाया नहीं जा सकता । इन्हीं दिनों साहित्यिक खोजों और सिद्धान्तों के प्रतिपादन के उद्देश्य से ही नागरी प्रचारिणी सभा की 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' का भी प्रारम्भ हुआ था । कहने का तात्पर्य स्पष्ट यह है कि भारतेन्दु-युगीन समीक्षा-साहित्य को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं । पहला वर्ग तो वह है कि जिसे परम्परागत सिद्धान्त-निरूपण साहित्य कहा जा सकता है, दूसरा पुस्तक-परिचय और व्यक्तिगत समीक्षा-प्रधान साहित्य तथा तीसरा समाचारपत्रों का समीक्षा-साहित्य । तीनों श्रेणी के प्राप्त साहित्य में प्रौढ़ चिन्तन नहीं है पर समीक्षा के विकास के स्वस्थ संकेत विद्यमान हैं ।

हिन्दी का संक्रान्ति-युग और आलोचना

आधुनिक हिन्दी को अपनी सम्पन्नता के लिए संस्कृत-साहित्य-चिन्तन, रीति-कालीन परम्परा के विश्लेषण तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों के अनुकरण की सहायता लेनी पड़ी है जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी में गति, क्षमता, विश्लेषण की प्रवृत्ति, मानवता के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण एवं भाषा की प्रौढ़ता आई है, हिन्दी की बहुमुखी प्रतिभा का विकास हुआ है। हिन्दी के गद्य-पद्य में नई विधाओं का प्रादुर्भाव हुआ है। काव्य में गौण रूप से स्वीकृत व्यक्तित्व एवं मूल्यांकन के तत्त्वों का रूप स्पष्ट हुआ है। संस्कृत से समीक्षा-सिद्धान्त एवं काव्य-सामान्य तो अवश्य हिन्दी को मिल गये हैं पर स्वस्थ आलोचना का स्वरूप, यद्यपि संकेत रूप में ही, भारतेन्दु-युग में मिला है जिस पर पाश्चात्य प्रभाव एवं भारतीय अन्य साहित्यगत चेतनाओं का अनुकरण स्पष्ट परिलक्षित होता है। समीक्षा-क्षेत्र में नवीनता का प्रतिपादन इस युग की देन है। इस नवीनता के प्रतिपादन के भी कारण हैं जिसके मूल में प्राचीनता की तह में बैठे हुए ग्रन्थविश्वासों एवं रूढ़ियों के प्रति प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति है। साथ ही, मध्ययुगोन भावुकता का स्थान बुद्धिवाद ले रहा था। भाव और कल्पना के स्थान पर बुद्धि एवं यथार्थ की प्रतिष्ठा हो रही थी। साहित्य का स्वरूप जीवन-विश्लेषण में निहित हो गया था। इतना ही नहीं वरन् साहित्य के मार्ग-निर्देशन का कार्य सिद्धान्तों की रूढ़ि परम्पराओं के स्थान पर आलोचना ने ले लिया है। साहित्य की एक नई रूप-रेखा ही सामने लाई गई, जिसे जीवन की समतल भूमि पर खड़ा किया गया है। उसकी पृष्ठ-भूमि में कल्पना का स्थान यथार्थ ने ले लिया है।

हिन्दी का प्रारम्भिक समालोचना-साहित्य, पुस्तक-परिचय, कवि-परिचय, या समाचारपत्रों में स्वतंत्र निबन्धों के रूप में मिलता है। इसका संकेत पिछले अध्याय में किया जा चुका है। भारतेन्दु के सामने काव्य-विश्लेषण से कहीं बड़ी समस्या भाषा की थी, फिर भी समाचारपत्रों के माध्यम से काव्य के स्वरूप, विशेषतः नाटक का स्वरूप एवं आवश्यकता, तथा विभिन्न विधाओं का स्वरूप स्पष्ट किया है। व्यक्तिगत आलोचना का प्रादुर्भाव भी इसी समय हो गया था, जो आगे चल कर द्विवेदी-युग में दोषोद्भावना की सीमा तक पहुँच गया है। समीक्षा के एक अन्य माध्यम का भी इस समय उल्लेख मिलता है। भारतेन्दु ने साहित्यिक प्रगति को जीवित रखने की दृष्टि से साहित्यिक गोष्ठियों का प्रचलन किया था, जहाँ साहित्यिक समस्याओं एवं

कृतियों की चर्चा होती थी। इसके माध्यम से साहित्यकारों को सतर्क करने का सोचा गया था पर आगे चल कर इसने कवि वर्ग के एक व्यवसाय का रूप ले लिया है। आलोचक भी थोड़ा डगमगा गया है। निष्पक्षता का सम्बल टढ़ न रह गया है और आलोचक, साहित्यिक वर्ग को अपने व्यक्तिगत विचारों एवं धारणाओं का शिकार बनाने लगा है।

समस्याएँ बढ़ी ही स्पष्ट हो गई थीं कि साहित्य-अनुशासन का अधिकार महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों में आया जिन्होंने आलोचना का मेरुदण्ड निष्पक्षता को स्वीकार किया। लोगों में असन्तोष फैल गया। चारों ओर विरोध होने लगे। एक वर्ग तो इसलिए विरोध कर रहा था कि वह आलोचना के कटु प्रहारों को सहने की क्षमता नहीं रखता और दूसरा वर्ग इसलिए कि परम्परा से चली आई धारणाओं एवं उनकी श्रद्धा-भक्ति के विपक्ष में आवाज उठायी गई थी। द्विवेदी जी का निबन्ध 'कालिदास की निरंकुशता' ने विरोधियों के दोनों पक्षों को आगे आने के लिए प्रोत्साहित किया पर सचमुच वे अर्ध से ही पराजित थे। टिक न सके। द्विवेदी जी की निष्पक्षता एवं निडरता ने सभी को शान्त तो कर दिया पर यह स्पष्ट हो गया कि कतिपय रूढ़िवादी धारणाएँ, परम्परागत अन्धविश्वास, ईर्ष्या, द्वेष, आदि तत्त्व सतत विकास के विरोधी तत्त्व हैं। समीक्षा का कोई मान-दण्ड स्थिर नहीं हो सका था, जिससे संयम रह सके। द्विवेदी ने यही कार्य अपने हाथों में लिया। सत्साहित्य की परख, साहित्यकारों को समुचित प्रोत्साहन, जनता में रुचि-निर्माण, तथा साहित्य-समीक्षा की पद्धति का महान् कार्य द्विवेदीजी ने किया है।

द्विवेदी-युग में उसी प्रवृत्ति का विकास हुआ है जिसका प्रारम्भ बद्रीनारायण, चौधरी प्रेमधन और बालकृष्ण भट्ट ने किया था। द्विवेदी जी के आलोचक को अपनी पत्रिका सरस्वती में पुस्तक-परिचय या पुस्तक-विज्ञापन मात्र से सन्तोष कब होने वाला था ? उन्होंने अपने हाथों में साहित्य-संचालन का अंकुश ले लिया और सरस्वती के माध्यम से, जहाँ अभी तक को परम्परा के अनुसार केवल 'पुस्तक-परिचय' ही चल रहा था, कविकर्म एवं काव्य-सामान्य की बातें साहित्यकारों के सामने रखने लगे। दोष-संकेत के साथ ही मार्ग-प्रदर्शन को अपना उद्देश्य बना कर द्विवेदी जी ने हिन्दी का ढाँचा ही बदल दिया है। उनके विचारों में, आलोचकों और साहित्यकारों का उद्देश्य सत्साहित्य का निर्माण करना है। समालोचकों या साहित्यिकों की छोटी सी भूल भी उन्हें स्वीकार नहीं थी। भूल कर बैठने वाला साहित्यकार, चाहे वह कोई भी हो, उनकी समीक्षा का शिकार अवश्य होता था। उनके विचारों में ऐसा करना साहित्य को प्रगति देना था और सही भी यही निकला कि यदि कोई आलोचक किसी भूल के लिए समीक्षा का विषय बन गया है, तो वह भूल फिर उसकी कलम से दुहरायी नहीं

गई। द्विवेदी जी की इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ में तो बड़ा विरोध हुआ पर वह विरोध धीरे-धीरे सहयोग में बदलता गया, क्योंकि उनकी आलोचना में विधायक की शक्ति थी, विध्वंस की भावना नहीं। वे सृष्टा और नियामक दोनों ही थे, उनमें साहित्य की मूलभूत प्रेरणाएँ साकार हो उठी थीं। वे साहित्य का मूल उद्देश्य जनता की रुचि का परिष्करण एवं सत्साहित्य का निर्माण करना मानते थे। सामाजिक आलोचकों, साहित्यकारों तथा कलाकारों को उन्होंने न केवल शास्त्रीय विषयों का उपदेश ही दिया है अपितु छन्द, भाषा, वर्ण्य विषय आदि पर भी उनके संकेत लोगों को मिले हैं। उनके सामने भाषा का प्रश्न इतना उलझा हुआ नहीं था जितना कि भारतेन्दु के युग में। भारतेन्दु को राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की प्रतिपाद्य उर्दू का खुला विरोध करना पड़ा था और हिन्दी को उर्दू का स्थान जनता में स्वीकार कराने का सफल प्रयास करना पड़ा था। उर्दू उस समय सरकारी भाषा भी थी, उसका विरोध करना कम साहस की बात न थी। द्विवेदी जी के सामने ऐसी कोई समस्या न थी कि साहित्य-निर्माण की कौन सी भाषा हो, इसके स्थान पर उनके सामने हिन्दी का स्वरूप निश्चित कर उसे काव्य-निर्माण एवं काव्यानुशीलन के अनुकूल बनाने का कार्य था। यह प्रश्न उनके सामने पूर्णतः नये ढंग में आया। उस समय तक काव्य की भाषा ब्रजभाषा थी और गद्य की भाषा हिन्दी खड़ी बोली। वे मानते थे कि भाषा बोल चाल की हो क्योंकि कविता की भाषा से बोल चाल की भाषा से जितनी दूर जा पड़ती है, उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। मुहावरों के प्रयोग पर भी वे साहित्यकारों को सतर्क रखना चाहते थे। उनके विचारानुसार यदि कुछ उर्दू के शब्द बोल चाल के प्रयोग में आ जायें तो उनका प्रयोग दोष नहीं है। द्विवेदी जी का यह प्रयास अंग्रेजी के कवि वर्डस्वर्थ जैसा असफल प्रयास था।

(वे मानते थे कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन है। आनन्द को कला का उद्देश्य स्वीकार करते हुए द्विवेदी जी ने काव्य में सरलता, स्पष्टता, और सरसता को महत्त्व दिया है। 'रसजनन' में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि रस काव्य का सबसे प्रमुख एवं प्रधान गुण है। वक्रोक्ति अलंकार एवं शब्द-शक्तियों से प्राप्त अर्थ की अपेक्षा अभिधेय अर्थमय काव्य ही श्रेष्ठ काव्य है क्योंकि जब मन को रसास्वादन के लिए कुछ प्रयत्न करना पड़े तो वह काव्य अभीप्सित आनन्द की उद्भावना न कर सकेगा और इसलिए वह काव्य-ग्रंथ भी कहे जाने का अधिकारी नहीं है। उन्हें यह भी मान्य नहीं है कि मनोरंजन के लिए सुखी का परित्याग हो। कविता के वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि "कविता का विषय मनोरंजक और उपदेश-जनक होना चाहिए", और कवि के कार्य का संकेत करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि उच्चावशों की अवतारणा ही उसका ध्येय होना चाहिए। रीतिकालीन परम्परा से चली हुई काव्य-चेतना, जो केवल 'कला:वैभव के विलास के लिए' ही है, कभी भी

द्विवेदी जी की स्वीकार नहीं थी। इसके कारण अलंकार-सम्बन्धी विरोधी विचार भी परिलक्षित होते हैं। उनके अनुसार यमक, अनुप्रास आदि शब्दजाल से कहीं अधिक प्रभावशाली स्वभावोक्ति है। काव्य में औचित्य का निर्वाह भी होना चाहिए। वे मानते हैं भाषा, छन्द, मलंकार, विषय-विस्तार तथा शब्द-चयन; सभी में सन्तुलन तथा सभी के प्रयोग में औचित्य होना चाहिए। क्योंकि औचित्य ही काव्य का सर्वस्व है।

समालोचक को सहृदय होना चाहिए और इस पर सर्वदा ही द्विवेदीजी ने बल दिया है। समालोचक की सहृदयता पर विचार करते समय द्विवेदीजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उसे कवि की भावुकता की समतल भूमि पर होना चाहिए। इस तर्क से वे केवल इसी पर बल देते हैं कि समालोचक की दृष्टि पैनी, मन सन्तुलित एवं हृदय भावुक होना चाहिए अन्यथा वह कभी भी कलाकृति एवं कवि के प्रति न्याय नहीं कर सकता। किसी स्थान पर तो प्रायः आलोचक को कवि की कल्पना के साथ चलने की क्षमता रखना अभीप्सित है, या उससे भी ऊँची उड़ान लेना आवश्यक है, अन्यथा काव्य-सौन्दर्य की उपेक्षा हो जाना सम्भव है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी आँखों में कवि आलोचक से हेय है वरन् दोनों के परस्पर सहयोग से ही सत्साहित्य का निदर्शन एवं परख हो सकती है। उन्होंने आलोचक को कवि की भूमि पर लाकर खड़ा अवश्य कर दिया है पर उसे प्रतिद्वन्द्वी बना कर नहीं।

द्विवेदीजी ने काव्य में बहिरंग की अपेक्षा अन्तरंग को श्रेयस्कर बतलाया है और ऐसी उनकी मान्यता रही है कि समालोचक को इसी अन्तरंग की खोज करनी चाहिए। उन्होंने व्यक्तिगत भावनाओं का स्थान साहित्य-समीक्षा में कहीं भी स्वीकार नहीं किया है। उनके विचारों में मनोविकारों से पराजित समालोचक को इस क्षेत्र में आना अपेक्षित नहीं है।

द्विवेदीजी ने न केवल मौलिक लेखकों को ही आलोचना का विषय बनाया है वरन् अनुवादकों एवं अनुवादों को भी अपना विचारणीय विषय रक्खा है। उनके अनुसार यदि अनुवादक पाठक के हृदय में उसी प्रकार का भावोद्रेक नहीं कर पाता है तो वह अनुवादक मूललेखक के प्रति अन्याय करता है। इस कारण अनुवादक को आलोचक की भाँति ही साहित्यिक गतिविधि का ज्ञान होना चाहिए। अनुवादक अपनी अज्ञानता से कहीं मूललेखक की आत्मा पर आघात न कर जाय। उसका कार्य अपेक्षाकृत अधिक सतर्कता का है क्योंकि उसे आलोचक की भाँति रचना-विशेष का मूल्यांकन करना होता है, अपने शब्दों की परख करनी होती है, तथा समानान्तर विचारधारा के अनुकूल शैली चुनना होता है। इससे भी अधिक, कृति-विशेष की शक्ति सँजोकर उसे पाठक के हृदय में समानान्तर भावों की व्यंजना करनी होती है। इस तरह उसका कार्य लेखक एवं आलोचक दोनों का उत्तरदायित्व निभाना है।

आलोचक के सामने इस समय तक कई-एक अन्य समस्याएँ भी आ गयी थीं। काव्य के नाम पर कविता या नाटक ही केवल नहीं लिखे जा रहे थे; अपितु अनेक नई विधाओं का समावेश हिन्दी में हो गया था, और धीरे-धीरे हो भी रहा था। साहित्यिक अनुसन्धानों एवं ऐतिहासिक खोजों ने सतर्क साहित्यकारों के कान खड़े कर दिये थे, क्योंकि आलोचक अब केवल शास्त्रीय परम्पराओं को लेकर ही अपना निर्णय नहीं दे सकता था। अलंकारों, रसों, शब्द-शक्तियों आदि के सन्तुलित ज्ञान के अतिरिक्त उसे साधारणीकरण, सौन्दर्य-बोध, ऐतिहासिक सत्य, कविसत्य, कल्पना, मूल्यांकन, व्यक्तित्व-प्रकाशन आदि अनेक तत्त्वों का ध्यान आलोचक को रखना है। साथ ही, उसका उत्तरदायित्व एकांगी आलोचना से हट कर तुलनात्मक दृष्टिकोण का हो गया है। साहित्यिकता के साथ ही ऐतिहासिकता का प्रतिपादन करना उसका उद्देश्य हो गया है। द्विवेदीजी ने आलोचना की नई रूपरेखा के साथ उसे बहुमुखी प्रतिभा प्रदान करने का सफल प्रयास किया है (यद्यपि इन सभी तत्त्वों के स्पष्ट स्वरूप द्विवेदीजी की आलोचना में नहीं मिलते पर अस्पष्ट संकेत एवं अन्य आलोचकों के दोषों का उल्लेख करते हुए उन्होंने इनका संकेत मात्र किया है और आलोचक-धर्म का उल्लेख किया है। इसके साथ ही उन्होंने स्थान-स्थान पर कवि-धर्म का भी संकेत किया है पर वैसे स्थलों पर उनका ध्यान औचित्य-विचार पर ही विशेष रहा है।)

द्विवेदीजी को काव्य-सामान्य और आलोचना के नये मान-दण्डों के अतिरिक्त साहित्य के रूप की ओर भी देखना था। वस्तुतः आलोचक के रूप में तो द्विवेदीजी ने साहित्यकारों का निर्देशनमात्र किया है, पर हिन्दी-साहित्य की भाषा के परिष्करण एवं शुद्धता का कार्य उनकी मूलतः साहित्य-सेवा है। जहाँ उन्हें साहित्य की आन्तरिक शक्ति को बढ़ाना अभिप्रेत था, वहीं उसे शुद्ध स्वरूप देना भी। खड़ी बोली के परिष्करण एवं उसकी व्यवस्था के लिए व्याकरण-रचना करने के स्थान पर आलोचना का माध्यम उन्होंने स्वीकार किया है और इसी से तत्कालीन साहित्यकों को एकसूत्रता का परिचय दिया है। किसी भी कार्य के प्रारम्भ में आने वाली अनेक उलझनों, अव्यवस्थाओं एवं संघर्षों के कारण यह सम्भव था कि भाषा का स्वरूप संयत एवं शुद्ध न हो पाता। अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग ही बजता रहता। इसके लिए उनके पास समाचारपत्र का माध्यम था और स्पष्ट विचारों की संयत शैली थी। सरस्वती उनकी वाणी थी और उसमें प्रकाशित भाषा-सम्बन्धी लेख उनके निर्देशन थे। द्विवेदीजी को भाषा की अशुद्धता कभी भी स्वीकार नहीं थी। वस्तुतः हिन्दी का वर्तमान स्वरूप उन्हीं की देन है। विभक्तियों को मिला कर लिखने या न लिखने का प्रश्न उस समय ही उठ गया था। उस सम्बन्ध में किसी निर्णय को मान्यता न तो उस समय मिल सकी और न आज तक ही किसी ने इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार 'ने'

का प्रयोग और वाक्य-विभेदों के प्रश्न भी द्विवेदी-युग में सुलझाए गए हैं। भाषागत अशुद्धियों को वे साहित्यकार को बहुत बड़ी भूल मानते थे जिसका निर्देश अपने 'पुस्तक-परिचय' स्तम्भ में करते हुए उस लेखक के अज्ञान पर खेद प्रकट करते थे। इसका परिणाम यह हुआ है कि लेखक दूसरी बार ऐसी अशुद्धि करने का साहस नहीं कर पाया है।

(यों तो द्विवेदीजी का व्यक्तित्व एवं उनकी साहित्यिक प्रतिभा ही समस्त युग की देन कही जा सकती है, पर सम्पूर्ण तत्कालीन साहित्य पर एक विचार करना भी आवश्यक है। यह स्पष्ट हो गया है कि उस साहित्य की भाषा, भाव, कल्पना, शक्ति, उद्देश्य आदि सभी तत्त्वों के सामने समस्याएँ थीं। साहित्य-निर्माण के नाम पर सम्भवतः अनपेक्षित कृतियों की भरमार हो जाने का डर था। मौलिकता के नाम पर कुछ भी नहीं आ रहा था। रीतिकालीन मुक्तक ही काव्य के माध्यम थे। शास्त्रीय परम्पराओं की उपेक्षा भी हो रही थी, नवीनता की आवाज भी उठाई जा रही थी, अनुवादों का प्रारम्भ हो गया था। अनेक नई साहित्यिक विधाएँ स्वीकार कर ली गयीं थीं। भाषा का प्रश्न प्रमुख हो उठा था, उर्दू का संघर्ष उसके लिए एक महान् समस्या बन गयी थी, शास्त्रीयता के नाम पर रूढ़ियों का विकास हो रहा था।

आलोचना अपने नये रूप में संपूर्णतः नयी विधा थी। भारतेन्दु-युग में ही इसकी शास्त्रीयता लोगों को कुछ खटकने लगी थी। नवीनता के मोह ने लोगों की अनुकरण-प्रवृत्ति को शक्तिशाली बना दिया। समाचारपत्रों में पुस्तक-परिचय के रूप में प्रयोगात्मक आलोचना का जन्म हुआ जो आगे चल कर कवि या उसकी विशेष कृति की आलोचना तक विकसित हो गया है। इसके माध्यम से आलोचक का दृष्टिकोण तो स्पष्ट हो पाया है पर स्वस्थ आलोचना-प्रवृत्ति विकसित नहीं हो सकी है। पाश्चात्य साहित्य की आन्तरिक शक्ति को तत्कालीन आलोचकों की अनुकरण-प्रवृत्ति पूर्णतः पचा नहीं सकी है। यही प्रवृत्ति व्यक्तिगत आक्षेपों के रूप में प्रतिफलित हुई है जिसकी आधार-भूमि का रूप दोषनिरूपणमात्र बन गया है। द्विवेदीजी स्वयं इसके शिकार हुए हैं। यही नहीं था कि द्विवेदीजी ने अनुशासन के लिए दोष-निरूपण को अपनाया हो पर उस युग के अन्य आलोचक भी उसी प्रकार आत्मप्रशंसा एवं पर-निन्दा की प्रवृत्ति से पराजित थे। यह इस युग की आलोचना की सबसे बड़ी कमी मानी जा सकती है कि स्वस्थ दृष्टिकोण के स्थान पर व्यक्तिगत आक्षेपों की बहुलता साहित्य में दिखाई देती है जो आज तक उसी रूप में चल रही है। हाँ, एक बात अवश्य ही प्रगति के अनुरूप कही जा सकती है कि द्विवेदी जी तक आते-आते स्वतंत्र चिन्तन को पुनः मान्यता मिलने लगी है। हिन्दी-साहित्य में पहली बार स्वतंत्र अध्ययन एवं चिन्तन को स्थान मिला है, यह इस युग की बहुत बड़ी देन है। इस अध्ययन में पाश्चात्य

एवं भारतीय दोनों ही सिद्धान्तों का संयत विकास हुआ। द्विवेदीजी की आलोचनाओं में इसका स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हो गया है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि द्विवेदीजी की आलोचना दोष-निरूपण एवं व्यक्तिगत आक्षेपों से आक्रान्त है, फलतः उनका सिद्धान्त-निरूपण काव्य-सामान्य-निरूपण से आगे नहीं जा पाया है। तर्कों की कमी अखरने की वस्तु बन गयी है, आदेशों का प्राधान्य हो गया है। परिणाम-स्वरूप औचित्य पर अधिक बल दिया गया है। भाषा, भाव, रस, अलंकार, उपयोगिता सार्थकता, मनोरंजकता, मूल्यांकन आदि के सैद्धान्तिक विवेचन में द्विवेदी जी स्वयं परम्परा के अनुगामी हो गये हैं, न तो उनमें विश्लेषणागत नवीनता आ पायी है और न गम्भीरता ही। बस इतना भर हुआ है कि जो काव्य-सामान्य-प्रतिपादन की प्रवृत्ति भारतेंदु-युग में संकेत रूप में मिलती थी, वह द्विवेदी-युग में आकर स्पष्ट एवं विश्लेषणात्मक हो गयी है। रीतिकालीन पद्धति समाप्तप्राय हो रही थी, उसके स्थान पर साहित्य-सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए विश्लेषण की प्रणाली को प्रश्रय मिला है।

भाषा की एकता इस युग की दूसरी प्रधान विशेषता है। परम्परा से चली आई काव्य की मान्यता-प्राप्त भाषा, ब्रज भाषा, की अक्षमता का संकेत द्विवेदीजी ने किया है और इतना ही नहीं वरन् पद्य और गद्य की भाषा की एकता का सफल प्रयास भी इस युग में हुआ है। वस्तुतः यह युग की चेतना थी, आलोचकों को उससे परिचित होना अनिवार्य था ही। समय की आवश्यकता पहचान कर तत्कालीन साहित्यकारों ने जनता की भाषा को ही गद्य और पद्य की भाषा के रूप में स्वीकार किया है। द्विवेदीजी के हाथों में भाषा का स्वरूप स्थिर हुआ है, उसे शक्ति मिली है, मनोविज्ञान मिला है और वह दर्शन से अनुप्राणित भी हुई है। हिन्दी खड़ी बोली ने सशक्त होकर ब्रजभाषा से काव्य-चिन्तन का क्षेत्र ले लिया है। भाषा के प्रतिपादन के साथ ही नये वर्ण्य विषय भी स्वीकार किये गये हैं, नयी प्रतिपादन-प्रणाली प्रतिपादित की गयी है, और उसके लिए नये सिद्धान्त स्पष्ट हुए हैं। फलतः आदर्शवादी एवं औचित्यपरक साहित्य का निर्माण हो सका है। मुक्तक के स्थान पर प्रबन्ध-काव्यों की रचना हुई है।

पहले बताया जा चुका है कि इस युग में आदेशपूर्ण संकेतों का प्रयोग किया गया है जिन्होंने साहित्यकार को सजग किया है कि उसे क्या करना है, उसका कर्तव्य क्या है, साहित्यिक औचित्य क्या है और साहित्य-क्षेत्र क्या है। प्राप्त सामग्री की छान-बीन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदीजी ने ही इसे प्रारम्भ किया है और उन्हीं के सामने यह शैली धीरे-धीरे शिथिल भी पड़ने लगी है। ज्यों-ज्यों अध्ययन एवं चिन्तन बढ़ता गया है इस शैली की उपयोगिता समाप्त होती गयी है। अन्य साहित्यकार भी अपने-अपने क्षेत्रों में सतर्कता से काम कर रहे थे। साहित्यिक चिन्तन के साथ ही ऐतिहासिक खोजें भी चल रहीं थीं। इस अन्वेषण की प्रवृत्ति को आदेश

कभी स्वीकार न थे। इससे भी आगे, ये आदेश तथा सिद्धान्त बड़े छिछले मालूम होने लगे थे। गम्भीर चिन्तन एवं विकासमयी विचारधाराओं के अनुकूल, इस आदेशपूर्ण शैली के स्थान पर गर्वेषणात्मक, विश्लेषणात्मक एवं तथ्य-प्रतिपादन की शैली अपनायी गयी है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि द्विवेदी-युग में साहित्य-समालोचना ही क्या, सम्पूर्ण साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ है पर वह प्रौढ़ चिन्तन नहीं है। अध्ययन एवं अनुशीलन की प्रवृत्ति का पुनःसंस्थापन अवश्य हुआ है पर वह पूर्ण सक्षम नहीं हो पाया है। प्रयाग में सरस्वती के माध्यम से द्विवेदीजी हिन्दी का निर्देशन कर रहे थे। उन दिनों का दूसरा केन्द्र था काशी, जहाँ नागरी प्रचारिणी सभा के अन्तर्गत डॉ० श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कार्य कर रहे थे। साथ ही, मित्र-बन्धुओं का स्वतंत्र प्रयास भी किसी भाँति उपेक्षणीय नहीं है। द्विवेदी जी ने नये लेखकों का मार्गप्रदर्शन किया है। उन्हें साहित्य की सामान्य भूमि पर ले आकर औचित्य के समानान्तर खड़ा किया है। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने प्राप्त सामयिक हिन्दी-साहित्य की रूपरेखा तैयार की है, मित्रबन्धुओं ने हिन्दी-साहित्य की परम्परा तैयार की है तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी को पूर्ण सक्षम एवं व्यवहार-कुशल बनाया है। हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल के सहयोग के सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे।

(जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि हिन्दी अपने बचपन से निकल कर वयःसंधि की अवस्था तक आ पहुँची थी कि उसके परिष्करण का कार्य-भार आचार्य द्विवेदी को सौंपा गया) आचार्य द्विवेदी ने उसे प्रौढ़ बनाया, सशक्त एवं स्वावलम्बी बनाया। भाषा के साथ-साथ विचारों में भी प्रौढ़ता आयी। उसकी प्रगति के लिए नियम बनाये गये। रस एवं साधारणीकरण के सिद्धान्तों की पुनः प्रतिष्ठा की गई। ब्रजभाषा और उर्दू से, उन दिनों जिन दोनों का बोलबाला था, गहरा संघर्ष लिया गया, गद्य और पद्य की भाषा में समानता लायी गयी। औचित्य का प्रतिपादन किया गया। परम्परा से आयी हुई रीति-विचार-धारा को हटाने का प्रयास किया गया। अनुवाद और मौलिक रचनाओं से हिन्दी का भण्डार भरा गया। नये छन्दों एवं अलंकारों के प्रयोग से हिन्दी का स्वरूप सँवारा गया तथा उसकी बहुमुखी प्रतिभा का विकास हुआ।

द्विवेदी जी का दोष-निरूपण व्यक्तिगत आक्षेपों तक पहुँच गया था। स्वयं द्विवेदीजी ही उसके शिकार हुए हैं, फिर भी कृति एवं लेखक की आलोचना की वास्तविक कमी की ओर सतर्क साहित्यकारों का ध्यान गया है। अंग्रेजी के अध्ययन तथा अनुकरण के परिणामस्वरूप ही सही, हिन्दी में आलोचना-पद्धति का विकास हुआ है जिसका अन्तरंग भारतीय काव्य-सामान्य है और बाह्य रूप पाश्चात्य अनुकरण।

इतना सब कार्य द्विवेदी जी की देख-रेख में हो गया था। स्पष्ट है कि हिन्दी-आलोचना इस योग्य हो गयी थी कि उसमें प्रौढ़ चिन्तन प्रस्तुत किया जा सके। स्वयं द्विवेदी जी ने ही अपनी कृति 'रसज्ञरंजन' में साहित्यिक अभिरुचि, आवश्यकता, दायित्व, गुण-दोष आदि विषयों का प्रतिपादन किया है।

डॉ० श्यामसुन्दरदास के सामने हिन्दीविषयक वे समस्याएँ उसी रूप में नहीं रह गयीं थीं जो भारतेन्दु के सामने थीं, या प्रारम्भ में महावीरप्रसाद द्विवेदी के सामने आयीं। इनके सामने तो साफ-सुथरा मैदान तैयार था, जब कि हिन्दी के नियमन, स्वरूप-चिन्तन, भाषाविषयक विवेचन, साहित्य, कला, स्वरूप और अंग-प्रत्यंग-विवेचन के साथ हिन्दी की समस्त विधाओं को शास्त्रीय रूप दिया जाय। डॉ० दास के सामने सिद्धान्त, शैली, विज्ञान, कला, साहित्य का स्वरूप आदि स्थिर करने का काम था। उनकी पृष्ठभूमि में साहित्य का संस्कृत के माध्यम से आया हुआ स्वरूप था और साथ ही पाश्चात्य अध्ययन की वैज्ञानिक परम्परा भी थी। यह सही है कि डॉ० दास को एक संघर्ष का सामना अवश्य करना था पर समस्याएँ पूर्णतः स्पष्ट थीं।

सरस्वती के माध्यम से भाषा और कविता का स्वरूप स्थिर किया गया है और द्विवेदीजी का सहयोग रहा है। काशी नागरीप्रचारिणी पत्रिका द्वारा इससे अगला कदम उठाया गया है जिसका उद्देश्य प्राप्त साहित्यिक सामग्रियों का ऐतिहासिक एवं साहित्यिक शास्त्रीयता के माध्यम से परीक्षण करना रहा है। यह कार्य डॉ० श्याम-सुन्दरदास की देख-रेख में हो रहा था। हाँ, इतना अन्तर अवश्य आ गया था कि आचार्य द्विवेदी की भाँति डा० दास को भाषागत या भावगत दोषों का संकेत आक्षेप रूप में करना नहीं रह गया था। उनका उद्देश्य मूलतः सामग्री की साहित्यिक परख तथा सिद्धान्तों को स्वरूप देना था। सच तो यह है कि यह उनकी व्यक्तिगत आवश्यकता न थी वरन् युग की चेतनागत आवश्यकता थी कि युग की विचारधाराओं के समानान्तर साहित्य-सिद्धान्तों का निर्माण हो। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए डॉ० दास ने अपने साहित्यालोचन में साहित्य का स्वरूप, कला और आचारशास्त्र, आवश्यकताएँ आदि विषयों के साथ साहित्य-समालोचना के सिद्धान्तों की ओर भी स्पष्ट संकेत किया है। इन सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में भारतीय शास्त्रीयता और पाश्चात्य अनुशीलन दोनों के सिद्धान्तों का समावेश है। आचार्य श्यामसुन्दरदास के सामने युग की मर्यादाएँ भी थीं, औचित्य भी था पर समय की आवश्यकता एवं मांग के प्रति सतर्कता के कारण किसी भी प्रकार अंग्रेजी साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों की अवहेलना नहीं हो पाई है। आलोचना के क्षेत्र में जिस व्यापक एवं समन्वित दृष्टिकोण की कमी साहित्य शास्त्रियों को अखर रही थी, उसका समारम्भ डॉ० श्यामसुन्दर दास द्वारा हो गया है। उन्हें साहित्य में मूल्यांकन, शैली, व्यक्तित्व-प्रकाशन, आदि तत्त्व भी उसी प्रकार

मान्य थे जैसे कि रस-सिद्धान्त या साधारणीकरण। साहित्य के उद्देश्य का संकेत करते हुए डॉ० दास ने स्पष्ट कर दिया है कि साहित्य का उद्देश्य केवल मनुष्य के मस्तिष्क को सन्तुष्ट करना नहीं है, वह तो मनुष्यजीवन को सुखी और अधिक सुन्दर बनाने की चेष्टा करना है। साहित्य और सुख का अभेद्य सम्बन्ध है और साहित्य को हमारी उस रुचि को तृप्त करने में समर्थ होना चाहिए जिसको हम अपने या किसी दूसरे के सामने प्रकट करने में लज्जित न हों। काव्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी प्रकार के ज्ञान की अवगति कराए। उसके लिए सब से आवश्यक और विशेष बात यही है कि वह अपने विषय तथा वर्णनशैली से पढ़ने वालों के हृदय में उस आनन्द की अनुभूति दे जो रसानुभव या रसपरिपाक से उत्पन्न होता है। वे मानते थे कि काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनन्द या चमत्कार को सृष्टि करे।

साहित्यिक चेतना एवं नियमन के अतिरिक्त डॉ० दास ने आलोचना-सिद्धान्तों की ओर भी संकेत किया है। उनके अनुसार आलोचना चार प्रकार की हो सकती है : सैद्धान्तिक, व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक और आत्मप्रधान। इस प्रकार के विभाजन अथवा वर्गीकरण में पाश्चात्य साहित्य का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है जिसके लिए डॉ० दास ने सार्वभौम एवं सार्वकालिक साहित्य को आधारभूमि बनाया है। इस विभाजन के साथ ही उन्होंने भारतीय परम्परागत आलोचना को ध्यान में रखते हुए शुद्ध सिद्धान्त और प्रयोगवादी, दो और स्थूल विभाजन किये हैं। परम्परा से मिली हुई शास्त्रीयता सैद्धान्तिक पद्धति है और कलाकृति या कवि की विशेषताओं का उल्लेख एवं चिन्तन प्रयोगवादी पद्धति। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने परम्परा से आये हुए संस्कृत-साहित्य के सिद्धान्तों को समयानुकूल बनाने और उनकी उपयोगिता को स्पष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी की उत्पत्ति, विकास और उसकी भाषागत विशेषताओं पर भी डॉ० श्यामसुन्दरदास ने विचार प्रकट करते हुए उनका स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया है। भाषाविज्ञान के विवेचन एवं चिन्तन में पाश्चात्य अध्ययन, अनुशीलन एवं विचारों का ही सहारा लिया गया है। कहने का तात्पर्य यह कि काव्य, साहित्य, आलोचना, भाषागत गवेषणात्मक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव, आदि सभी का संयत विवेचन डॉ० श्यामसुन्दरदास द्वारा हुआ है। भारतेन्दुयुगीन साहित्यकारों ने जिस कमी की ओर संकेत किया था, डॉ० श्यामसुन्दरदास ने सतत प्रयत्न किया है कि वह कमी मिट जाय। हिन्दी के लिए समयानुकूल प्रौढ़ चिन्तन एवं सिद्धान्तों की आवश्यकता थी, डॉ० श्यामसुन्दरदास ने उसे पूरा किया है।

द्विवेदीजी की आलोचना-पद्धति में प्रौढ़ता नहीं आ पाई थी, उसके सैद्धान्तिक पक्ष की कमी को डॉ० श्यामसुन्दरदास ने, और प्रयोग-पक्ष की कमी को मिश्रबन्धुओं

ने पूरा किया है। मिश्रबन्धुओं के समालोचना-क्षेत्र में आने के समय आलोचना की ऐसी स्थिति स्पष्ट हो गई थी कि उसमें प्रौढ़ विवेचन एवं गवेषणात्मक परिचय प्रस्तुत किया जा सके। इस प्रकार काम बहुत सरल हो गया था। मिश्रबन्धुओं के लिए द्विवेदीजी की परिचयात्मक तथा निर्णयात्मक शैली भी प्राप्त थी और नागरी प्रचारिणी की छत्रछाया में विकसित गवेषणात्मक शैली भी, जिसका प्रमुख उद्देश्य ऐतिहासिक अन्वेषण करना था। द्विवेदीजी ने आलोचना की भाषा प्रौढ़ कर दी थी और श्यामसुन्दरदास ने उसे नियमों में बाँध दिया था। कहने का तात्पर्य यह है कि मिश्रबन्धुओं को शैली को खोज नहीं करनी थी। यदि कुछ करना था तो वह केवल प्राप्त शैलियों का परिष्करण। साथ ही, मिश्र-बन्धुओं ने समय की आवश्यकता एवं माँग को भी पहचानने का प्रयत्न किया था। आलोचना-क्षेत्र में एक अन्धकार छा जाने का भय था जिसका प्रमुख कारण द्विवेदीजी की दोषान्वेषणी, विशेषतः आक्षेपमूला शैली थी। इस परिस्थिति की पहचान मिश्र-बन्धुओं को हो गई थी। आवश्यकतानुसार द्विवेदीजी द्वारा प्रतिपादित आलोचना के कुछ तत्त्वों को ही स्वीकृति मिल पाई और विशेषतः दोषविवेचन की ओर मिश्र-बन्धुओं ने उपेक्षा की दृष्टि अपनायी है। वस्तुतः इस दोष-दर्शन का स्थान भी उनके हाथों में प्रशंसात्मक ढंग ने ले लिया है। इतना ही नहीं वरन् अपने निर्णयों में मिश्र-बन्धुओं ने तटस्थता की नीति को अपनाया है। इस नीति को व्यवहार में लाकर इन्होंने द्विवेदी-प्रणाली से अपने को अलग कर दिया है।

तटस्थता की नीति अपनाने के बावजूद भी मिश्र-बन्धुओं ने अपना उद्देश्य गुण-दोष-चिन्तन का रक्खा है पर इसके लिए उन्होंने केवल शास्त्रीयता का ही आधार नहीं लिया है। अलंकार, छन्द, रस आदि शास्त्रीय विवेचन में तो परम्परागत रूढ़ सिद्धान्तों का प्रयोग किया गया है पर अन्य सामान्य तत्त्वों के विवेचन में मिश्र-बन्धुओं ने बड़ी ही निष्पक्षता एवं स्वतंत्रता का परिचय दिया है। समालोचना के प्रमुख आधार के रूप में कवि का सन्देश और अभिव्यक्ति-सौन्दर्य को स्वीकार करते हुए अपनी विचारधारा के फलस्वरूप, मिश्र-बन्धुओं ने सब से पहले हिन्दी-कवियों की व्यापक दृष्टि से समाज को परिचित कराने का प्रयास किया है। 'हिन्दी नवरत्न' इन्हीं सामान्य स्वतंत्र मानदण्डों पर आधारित हिन्दी-कवियों का व्यापक दृष्टि से विवेचन मात्र है। इस ग्रन्थ की आलोचना-शैली की सब से बड़ी विशेषता श्रेणी-विभाजन की है। काव्य-सामान्य के आधार पर काव्य-सौष्ठव की परीक्षा करते हुए हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों का क्रम निश्चित करना मिश्र-बन्धुओं का सब से पहला काम है जिससे हिन्दी-जगत् में एक नई चेतना आ गई है। वस्तुतः मिश्र-बन्धुओं ने एक श्रेणी के कवियों के, एक-एक छन्द की उत्कृष्टता और हीनता पर विचार कर, तुलना की प्रणाली पर आधारित अपनी आलोचना-शैली स्पष्ट की है।

मिश्र-बन्धुओं ने अपनी इस तुलना-प्रधान शैली का आधार काव्य-सौन्दर्य स्वीकार किया है। शास्त्रीय विचारों से लेखकों ने विभिन्न कवियों के काव्य-सौन्दर्य की परख की है, उसके आन्तरिक सौन्दर्य की परीक्षा की है। छन्द, रस, गुण, शब्द-शक्तिय तथा गुण-दोषों का संकेत मिश्र-बन्धुओं ने तुलनात्मक ढंग से और बहुत ही स्पष्टतापूर्वक किया है। 'हिन्दी नवरत्न' में इन्होंने कवियों के काव्य-सौष्ठव के विवेचन के स्थान पर उनकी सामान्य प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिया है। साथ ही इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती कि मिश्र-बन्धुओं की आलोचना-पद्धति में उनकी व्यक्तिगत रुचि को—शास्त्रीयता, नियम और विश्लेषणात्मक तर्कों की अपेक्षा—अधिक स्थान मिला है जिसके परिणामस्वरूप मान्य सिद्धान्तों जैसे 'काव्य की आत्मा रस है', आदि की भी अवहेलना हो गई है। इतना ही नहीं वरन् यह भी कहा जा सकता है कि मिश्रबन्धु अपनी रुचि के अनुसार काव्य-सामान्य के सिद्धान्तों में भी बहुत-कुछ उलट-फेर करते चले हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आभ्यन्तर सत्यगत मूल्यांकन की अपेक्षा इनके आलोचना-गत विचारों में कला का बाह्य स्वरूप अधिक मान्य है। स्पष्ट है कि इनकी आलोचना-पद्धति का कोई नियम निश्चित नहीं हो पाया है। समय, परिस्थिति और व्यक्तिगत रुचि के अनुसार इसमें परिवर्तन प्रतिपादित किये गये हैं। मत के लिए इनके पास कुछ नहीं है, अन्य आचार्यों के विचार ही इनके लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य कर रहे हैं।

जिस प्रकार सिद्धान्त-निरूपण या मत-प्रतिपादन में यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि मिश्र-बन्धुओं का मत क्या है या वे किस प्रचलित मत के अनुयायी हैं, उसी प्रकार इनकी प्रस्तुत आलोचना-कृतियाँ भी सम्पादन-तत्त्वों से अधिक भरी पड़ी हैं। प्राप्त मतों को एक साथ रख कर, उसी के अनुकूल कवि विशेष की स्थिति पर विचार किया गया है। उसके ऐतिहासिक सत्य की परख की गई है पर वास्तव में मिश्र-बन्धुओं ने अपनी ओर से क्या दिया, इस पर मौन ही रहना होगा। यदि कुछ कहने योग्य है तो वह केवल 'श्रेणी-विभाजन का कार्य' है जिसे हम मौलिक देन अवश्य कहेंगे।

मिश्र-बन्धुओं ने अपनी आलोचना के शास्त्रीय पक्ष के लिए रीति-ग्रन्थों को ही आधार माना है फिर भी वे इसे अधिक स्पष्ट नहीं कर पाये हैं कि मूलतः वे किस आचार्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे हैं। विश्लेषणों में पाश्चात्य प्रभाव परिलक्षित होता है पर वह भी उतना स्पष्ट या उभर नहीं पाया है कि उनके कथन से कोई मत निश्चित किया जा सके। पाश्चात्य ढंग पर उन्होंने पद्य और गद्य दोनों को काव्य कहा है जिसके मूल में भावों के वेग और उनकी गतिशीलता है।

मिश्र-बन्धुओं की आलोचना-पद्धति पर यदि सामूहिक रूप से विचार किया

जाय तो उसका स्वरूप परम्परा से चलती आई विचारधारा से अलग स्पष्ट हो जाता है। द्विवेदीजी की सामयिक समस्याएँ इनके सामने न होने से भी प्रौढ़ चिन्तन के लिए थोड़ा क्षेत्र बन पाया है। साथ ही इन्हें संयत आलोचना-क्षेत्र मिल गया था जहाँ विचारधाराओं, शास्त्रीय पद्धतियों तथा पाश्चात्य विचारों पर प्रयोग मात्र करना था। ऐसी परिस्थिति में मौलिक स्पष्ट प्रतिपादन न हो सके तो उसे साहित्यकार की व्यक्तिगत कमी ही कहना चाहिए। मिश्र-बन्धुओं की आलोचना की मौलिकता 'श्रेणी-विभाजन' है, इसके अतिरिक्त परम्परा और पाश्चात्य अध्ययन ही मुखर हुआ है। वस्तुतः मिश्र-बन्धु उस समय में हुए हैं जब कि नवीनता की पुकार की जा रही थी, और साथ ही प्राचीनता का मोह भी अपनी ओर खींच रहा था। नवीनता, पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों की मुखापेक्षी रही है जिसके परिणामस्वरूप आलोचक जीवन-सन्देश और अभिव्यक्ति की ओर आकर्षित हुआ है। शास्त्रीयता का दामन छूट-सा गया है। मिश्र-बन्धुओं की आलोचना की प्रधान विशेषता इसी सन्देश की खोज और उसकी संयत अभिव्यक्ति है। 'हिन्दी नवरत्न' में इनकी इसी विचारधारा का प्रतिपादन किया गया है। सूर, तुलसी, कबीर, भूषण आदि सभी कवियों में सामाजिक, राष्ट्रीय तथा जातीय सन्देशों की खोज की गई है। कुछ कवियों की आलोचना में तत्सामयिक परिस्थितियों के प्रभावों का संकेत किया गया है। इन सामयिक परिस्थितियों के प्रभाव को छोड़ कर कवि के विश्वासों, दार्शनिक विचारधाराओं तथा कवि-रूढ़ियों का भी विश्लेषण किया गया है। विशेषतः कबीर का विवेचन प्रस्तुत करते समय दार्शनिक चिन्तन अधिक निखर पाया है।

द्विवेदी जी की भाँति मिश्र-बन्धुओं के सामने भाषा की समस्या उतनी उलझी हुई नहीं थी। द्विवेदी जी ने अपनी आलोचना को प्रमुखतः भाषागत अशुद्धियों की ओर संकेत करने पर अबलम्बित कर दिया था पर सम-सामायिक होने पर भी, मिश्र-बन्धुओं ने, इसकी ओर ध्यान नहीं दिया है। यद्यपि आचार्य द्विवेदी की अध्यक्षता में भाषागत वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ था और मिश्र-बन्धुओं ने भी उस समय अपने विचार प्रकट किये थे पर साहित्य-क्षेत्र में किसी प्रकार का भाषागत आन्दोलन इनका उद्देश्य नहीं रहा है। वस्तुतः मिश्र-बन्धुओं ने इसकी ओर उपेक्षा की दृष्टि रखी है। न तो यह उनका उद्देश्य था और न कार्य ही। उनके विचारों में, यदि आलोचना के लिए भाषागत त्रुटियाँ आधार बनती हैं, तो सैद्धान्तिक रूप में वह विचारधारा आलोचना की अवरोधक होते हुए मानसिक अपचन मात्र कही जा सकती है। 'भाषा, भाव और विषय के अनुकूल हो', आलोचना के लिए उन्हें इतना ही स्वीकार था; न कि उसकी व्याकरण-गत भूलें अथवा असंयतता। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है; कि मिश्र-बन्धुओं ने असंयत एवं अशुद्ध भाषा को साहित्य-निर्माण के लिए शोभनीय बतलाया है पर, उस पर ही काव्य-सौष्ठव निखर सकता है, ऐसा वे नहीं मानते थे। वे यह स्वीकार करते थे कि भाषा में

मनमाना नहीं होनी चाहिए और साथ ही, भाषा को शास्त्रीयता ही न जकड़ ले, इससे भी सतर्क रहते थे। शब्दगत समानान्तर मनोविज्ञान की रक्षा सर्वथा होनी चाहिए। हिन्दी के शब्द-भण्डार के विषय में उनका स्पष्ट मत था कि हिन्दी जनमात्र की भाषा ही रहकर साहित्य-सृजन करे और यदि इसमें संस्कृत-शब्दों की बहुलता हो जाती है, तो वह हिन्दी न रह कर संस्कृत हो जायगी। भाषासम्बन्धी मिश्र-बन्धुओं के विचारों को पूर्णतः स्पष्ट करना एक कठिन कार्य है क्योंकि उन लोगों ने एक स्थान पर कुछ नहीं कहा है वरन् अलग-अलग कवियों की आलोचना करते हुए जो कुछ लिखते गये उसी के अध्ययन पर एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है। साथ ही, इस सम्बन्ध में कुछ संकेत द्विवेदी जी द्वारा प्रस्तावित भाषागत वाद-विवाद में भी स्पष्ट हो जाते हैं। जो कुछ भी हो, और चाहे जहाँ ये विचार मिलें पर इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मिश्र-बन्धुओं के भाषागत विचार बहुत सुलभे हुए थे। यद्यपि उनकी आलोचना की इस शैली में संश्लिष्टता नहीं आ पायी है।

हिन्दी क्या, संस्कृत-साहित्य में भी, इतने विशद रूप में किसी कवि-विशेष की रचनाओं पर सामूहिक रूप से विचार पहले कभी भी नहीं हुआ था जितना कि मिश्र-बन्धुओं द्वारा हुआ है। यह प्रयास वस्तुतः उनकी आलोचना-पद्धति की विशेषता है। हिन्दी के अन्य समकालीन आलोचक अपने-अपने निश्चयों के अनुसार हिन्दी की सेवा कर रहे थे—जैसे द्विवेदी जी के सामने भाषागत समस्या थी, श्यामसुन्दरदास के सामने भाषा के विकास एवं गवेषणा की समस्या थी, पर मिश्र-बन्धुओं के सामने पूर्णतः साहित्यिक चिन्तन की समस्या थी। गुण-दोषों के विवेचन का आधार लेते हुए, विश्लेषणात्मक तरीके से एक निर्णय प्रस्तुत करने का प्रयास, आलोचना-क्षेत्र में इस प्रकार का कार्य था, जिसे निश्चय ही 'मिश्र-बन्धुओं की हिन्दी के लिए मौलिक सूत्र' मानना पड़ेगा। मैंने 'हिन्दी के लिए ही इस शैली-विशेष को मौलिक' इसलिए कहा है कि पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव में बंगला-साहित्य में इस प्रकार की पद्धति स्वीकृत की जा चुकी थी। मिश्र-बन्धुओं ने इस विवेचना-प्रधान शैली का सहारा लेकर अपने निर्णयों के अनुकूल कवियों का श्रेणी-विभाजन कर दिया है। इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

इसके अतिरिक्त मिश्र-बन्धुओं ने साहित्यिक इतिहास का स्वरूप स्पष्ट कर दिया है। ऐतिहासिक परम्परा इनसे पहले न थी। शिर्वांसिंह सरोज ने कुछ कार्य इस क्षेत्र में किया था पर उसे इतिहास का रूप या साहित्यिक क्रमिक विकास नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य साहित्य में यह परम्परा प्रचलित हो चुकी थी। मिश्र-बन्धुओं ने हिन्दी-क्षेत्र में यह कार्य सम्पन्न किया। 'मिश्रबन्धु-विनोद' इसी परम्परा का पृथक् ग्रन्थ कहा जा सकता है। जैसी कि परिस्थितियाँ आगयी थीं, अब तक सिद्धान्तों की अपेक्षा

उनके प्रयोगों की आवश्यकता स्पष्ट हो गयी थी। मिश्र-बन्धुओं ने प्रयोगों को ही अपनाया है, सिद्धान्तों को पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार किया है। यह सही है कि विश्लेषण, तर्क और प्रौढ़ चिन्तन की कमी मिश्र-बन्धुओं की आलोचना-पद्धति में अस्तरती है पर शास्त्रीय विवेचनों में गम्भीरता भी है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः इतिहास और श्रेणी-विभाजन की विशेषता के अतिरिक्त मिश्र-बन्धुओं की सब से बड़ी विशेषता उनका तुलनात्मक दृष्टिकोण है जिसके आधार पर ही वे श्रेणी-विभाजन कर सके हैं। कई कवियों की कृतियों को सामने रख कर पारस्परिक तुलना करते हुए, इस निर्णय पर पहुँचना कि अमुक कवि श्रेष्ठ है, शास्त्रीय विवेचन के लिए यह पद्धति स्वीकार की जा सकती है; पर सामूहिक रूप से इसका प्रयोग करने में भारी भूलें भी हो सकती हैं। मिश्र-बन्धुओं को भी सामान्य विशेषताओं के निरूपण में इस शैली के प्रयोग में सफलता नहीं मिली है। यह मानदण्ड मुक्तक रचनाओं के लिए ग्राह्य हो सकता है पर समस्त रचनाओं के लिए नहीं। मिश्र-बन्धुओं को इस तुलनात्मक विवेचन में सफलता न मिलने का एक कारण यह भी हो सकता है कि शास्त्रीय आधार का स्वरूप इनके सामने स्पष्ट नहीं हो पाया था। वे कहीं आन्तरिक श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए देखे जाते हैं और कहीं बाह्यस्वरूप को। सूर और तुलसी की रचनाओं में विवेचन आत्मा पर आधारित है और बिहारी अथवा देव की विवेचना बाह्य स्वरूप शब्द-वैचित्र्य आदि पर अवलम्बित है। यद्यपि मिश्र-बन्धुओं के सामने तुलनात्मक दृष्टिकोण स्पष्ट हो गया था पर उसका परिपालन सभी कवियों की रचनाओं के साथ वे नहीं कर सके हैं, फिर भी आने वाले आलोचकों का मार्ग-प्रदर्शन अवश्यमेव श्रेयस्कर है।

मिश्र-बन्धुओं की आलोचना-पद्धति पर संक्षेप में विचार करते हुए कहा जा सकता है कि मिश्र-बन्धुओं ने साहित्यिकता को प्रश्रय दिया है; उसकी ऐतिहासिक परम्परा निश्चित की है, उसे तुलनात्मक दृष्टिकोण दिया है, शास्त्रीय प्रौढ़ विश्लेषण-पद्धति प्रदान की है, मनोविज्ञान का आधार दिया है। व्यक्तित्व-दर्शन, विचार और सामाजिक परिस्थितियों का स्वरूप परिष्कृत किया है और श्रेणी-विभाजन का मौलिक रूप प्रदान किया है। मिश्र-बन्धुओं के अनवरत प्रयास का परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र के कर्मठ कार्यकर्ताओं के सामने हिन्दी-साहित्य का स्वरूप तथा परम्परागत विचारधाराएँ स्पष्ट हो गयी हैं। पिछली समस्याएँ समाप्त हो गयी हैं, वाद-विवाद का प्रश्न नहीं रह गया है। हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र के लिए तुलनात्मक शैली की एक राह मिल गयी है और आने वाले आलोचकों का मार्ग-प्रदर्शन हुआ है। हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का रूप मिश्र-बन्धुओं से ही प्रारम्भ हो गया था।

जिस तुलनात्मक दृष्टिकोण का प्रारम्भ मिश्र-बन्धुओं ने किया है उसका सतत

विकसित स्वरूप आचार्य पद्मसिंह शर्मा में मिलता है। इससे पहले कि हम आचार्य पद्मसिंह शर्मा की शैली-विशेष एवं पद्धति पर विचार करें, तुलनात्मक दृष्टिकोण की विशेषताओं एवं आवश्यकताओं पर विचार कर लेना आवश्यक है। किसी भी वस्तु या विषय का सम्यक् अध्ययन तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि समान स्तर और समानधर्मी वस्तुओं को सामने प्रस्तुत कर हम उनकी विशेषताओं को स्पष्ट न करें। किसी वस्तु को अच्छा या बुरा स्वीकार करने की साधारण प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में यही भावना होती है। यद्यपि हम नित्यप्रति की आवश्यकताओं से इतने हिल-मिल से गये हैं कि एक क्षण में होने वाली मानसिक प्रतिक्रिया की वस्तुगत प्रगति आँक नहीं पाते। वस्तु-स्थिति के अनुकूल सापेक्षवाद के समानान्तर ही तुलनात्मक दृष्टिकोण-गत सत्य स्वीकार किया जा चुका है। यहाँ तक कि ज्ञान को भी सापेक्ष और 'तुलनात्मक चिन्तन को भाव-भूमि की वस्तु' स्वीकार किया गया है। आलोचना का क्षेत्र सीमित होते हुए भी इतना कठिन और संयमित है कि आलोचक को विश्व की अनुभूतियों को पहले अपनी अनुभूति में बदलना होता है, साथ ही उसे परम्परा-गत मान्यताओं एवं सत्य को सापेक्ष सिद्धान्त पर परखना होता है। तब कहीं उसके सामने यह स्वरूप स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत कलाकृति, जिसकी वह आलोचना करने जा रहा है, और वास्तविक वस्तुगत सत्य में कितनी समानता है। तुलना की यह प्रवृत्ति मानव मात्र की सामान्य प्रवृत्ति है। यदि आलोचना को इस स्तर पर देखें तो इसे स्वीकार करना पड़ेगा कि तुलनात्मक दृष्टिकोण के बिना कोई भी आलोचनात्मक सिद्धान्त निर्धारित नहीं हो सकता।

साहित्य-सृजन के लिए बुद्धि, हृदय और तर्क के समन्वित रूप की आवश्यकता होती है। आलोचक के सामने ये सभी वस्तुएँ होती हैं और स्पष्ट ही उसका अपना जाग्रत विवेक भी होता है। कोई भी कृति आलोचक के सामने आते ही उसके विवेक को चुनौती देती है और उसका आलोचक व्यक्तित्व वस्तु के परीक्षण में व्यस्त हो जाता है। यहाँ उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति का प्रतिभिज्ञा (Cognition) में एक संघर्ष होता है। वस्तुतः यह मानसिक प्रतिक्रिया ही साहित्य-क्षेत्र में आलोचना के रूप में प्रतिपादित की गई है। यदि आलोचक उसे स्वीकार कर लेता है तो वह उस प्रवृत्ति से पराजित हो गया है जिसका प्रतिपादन लेखक ने किया है, या उसे अच्छा या बुरा कहता है तो उसकी कमियोंकी ओर संकेत होता है। अतः बिना तुलनात्मक प्रवृत्ति के न तो किसी काव्य-कृति की वास्तविक परख हो सकती है और न किसी प्रकार की प्रगति ही।

भारतीय समीक्षा-पद्धति में, स्पष्ट रूप में तो नहीं, पर जहाँ व्यक्तिगत रूप में कवि की विशेषताओं की ओर समीक्षक संकेत मात्र करता है, उसका तुलनात्मक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाना स्वाभाविक है। वस्तुतः समीक्षा की यही पद्धति सबसे प्राचीन है

क्योंकि इसका आधार 'श्रेष्ठता या हीनता की भावना' के अनुकूल है। जब समीक्षक यह कहता है कि पद-लालित्य, अर्थ-गौरव और उपमा तीनों की दृष्टि से माघ सर्वश्रेष्ठ कवि हैं तो उसका ध्येय केवल तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करना रहा है। उनके इस श्लोक में—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।

दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

यहाँ कालिदास, भारवि, दण्डी और माघ की विशेषतागत तुलना प्रस्तुत है। हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में भी इस प्रकार के सूत्रात्मक वाक्यों में कवि की व्यक्तिगत विशेषताओं के पीछे तुलनात्मक सत्य प्रतिपादित हुआ है। इस तत्त्व का दर्शन आचार्य द्विवेदी की शैली में भी होता है और मिश्र-बन्धुओं का श्रेणी-विभाजन इसी शैली पर आधारित है। आचार्य पदमसिंह शर्मा में यह शैली विशेष मुखर हो गयी है जिसका सन्तुलित एवं प्रौढ़ स्वरूप उनकी 'बिहारी सतसई' में स्पष्ट हुआ है।

आचार्य पदमसिंह शर्मा से पहले कवि-विशेष की रचनाओं पर, सामयिक साहित्यिक चेतना, परिस्थिति तथा विचारधाराओं को सामने रख कर ही तुलनात्मक दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है। मिश्र-बन्धुओं का श्रेणी-विभाजन इससे भी अधिक संकुचित दृष्टिकोण का परिणाम कहा जा सकता है क्योंकि कवि की छन्दगत विशेषताओं पर ही उसका पद निर्धारित करना उनका ध्येय रहा है। पदमसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' के अपने भाष्य की भूमिका में इस तुलनात्मक दृष्टिकोण को अपनाया है। सबसे पहले इनका दृष्टिकोण, मिश्र-बन्धुओं की भाँति ही कवि की व्यक्तिगत विशेषताओं की ओर गया है। साथ ही सतसई की परम्परा स्पष्ट करते हुए शर्मा जी ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि बिहारी के सामने 'आर्या सप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' संस्कृत के दो ग्रन्थ उदाहरण के लिए थे। इन दोनों साहित्यिक निधियों की परम्परा में बिहारी सतसई को रखते हुए बिहारी पर लगाये गये भावापहरण के आक्षेपों को वे निर्मूल सिद्ध करते हैं। आचार्य शर्मा ऐसे पहले आलोचक दिखायी देते हैं जिन्होंने पक्षपातशून्य एवं निरपेक्ष दृष्टिकोण को अपनाया है। यदि आलोचक किसी काव्य-कृति की साहित्यिक परम्परा की उपेक्षा कर उसकी विशेषताओं को स्पष्ट करता है तो निश्चय ही वह भ्रम में स्वयं है और पाठक को भी भ्रम में रखने का प्रयास करता है। मिश्र-बन्धुओं ने देव या किसी अन्य कवि की विचारधारागत पराम्परा पर किसी भी प्रकार का विचार प्रकट नहीं किया है। यह उनका एकांगी अध्ययन मात्र कहा जा सकता है न कि तुलनात्मक आलोचना का व्यवस्थित स्वरूप। चाहिए यह था कि शृङ्गार की जिस मुक्तक शैली को लेकर समसामयिक कवि अवतीर्ण हुए, वे उसकी पूरी व्याख्या करते हुए देव और बिहारी का स्थान निर्धारित करते। आचार्य शर्मा ने इसी असंयम

का ध्यान अपनी आलोचना में सर्वत्र रखा है। उनका प्रमुख उद्देश्य रहा है कि साहित्यिक परम्परा के प्रौढ़ चिन्तन के साथ ही, बिहारीविषयक फैली हुई भ्रान्तियों का समूल निराकरण किया जाय। उन्होंने सबसे पहले तो मौलिकता की रुढ़िबद्ध परिभाषा ही बदल दी है। शास्त्रीय परम्परा से चली आयी मौलिकता, जिसे केवल नवीन वस्तु के उत्पादन के अर्थ में ही स्वीकार किया गया था, इनके समय में बदल गयी और 'उक्ति-वैचित्र्य तथा नवीनता के सहज सामंजस्य' को मौलिकता की संज्ञा दी गयी।

हिन्दी-आलोचकों में महाकवि या कविसामान्य की शास्त्रीयता पर पहली बार विचार पदमसिंह शर्मा ने किया है। उन्होंने महाकवि की व्याख्या 'जिन कवियों में सरस और प्रतीयमान अर्थपूर्ण कविता करने की क्षमता हो, वह महाकवि हैं' लिख कर की है। शर्मा जी की इस परिभाषा के पीछे 'ध्वन्यालोक' की एक कारिका है। इस तरह यह परिभाषा शास्त्रीय सिद्धान्तों एवं दृष्टान्तों से पुष्ट है। इसी के आधार पर संस्कृत-साहित्य में भी 'गीतगोविन्द', 'अमरु शतक', 'आर्या सप्तशती', 'गाथा सप्तशती' आदि रचनाओं के लेखकों को भी महाकवि कहा गया है। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि प्रबन्ध-काव्य का रचयिता ही महाकवि हो सकता है, वरन् मुक्त छन्दों का रचयिता भी महाकवि हो सकता है। रीतिकाल में संस्कृत के इस शास्त्रीय निर्णय को स्वीकार नहीं किया गया है। परिणामस्वरूप रीतिकाल के कवियों में आचार्यत्व का मोह दिखायी देता है। हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में पुनः इस भेदव्यवहार को स्वीकृत कराने का श्रेय श्री पदमसिंह शर्मा को है। इसी के आधार पर शर्मा जी बिहारी को महाकवि मानते हैं।

मिश्र-बन्धुओं द्वारा बिहारी के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्त धारणाएँ प्रोत्साहित की गयी थीं। शर्मा जी को सबसे पहले उन भ्रान्तियों का समूल निवारण करना था और इसी उद्देश्य से बिहारी की रचना के प्रति सहृदयों में रुचि पैदा करने का कार्य शर्मा जी ने अपने हाथों में लिया है। इसके लिए शर्मा जी को शृङ्गार रस, मौलिकता और महाकवि-विषयक सिद्धान्तों के लिए प्रगतिवादी दृष्टिकोण अपनाना था। उन्होंने काव्य में शृङ्गार-प्रयोग के औचित्य को स्वीकार करते हुए तथा मौलिकता का नया रूप प्रतिपादित करते हुए, महाकवि की नयी व्याख्या प्रस्तुत की है। सच तो यह है कि मान्य धारणाओं का इतना खुला विरोध अभी तक हिन्दी-साहित्य में शर्मा जी से पहले किसी ने नहीं किया था। कुछ लोगों के सामने यह निर्णय अतिशयोक्ति जैसा प्रतीत होगा और वे महावीरप्रसाद द्विवेदी अथवा भारतेन्दु द्वारा किये गये विरोधों को सामने रखने का प्रयत्न करेंगे। मैं यहीं स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि वे विरोध समस्यामूलक थे, परिस्थितियों की देन थे न कि साहित्यिक अभिरुचि-निर्माण को सामने रखकर सत्य-प्रतिपादन के लिए किये गये वास्तविक विरोध। शर्मा जी का प्रगतिवादी दृष्टिकोण

पूर्णतः साहित्यिक मान्यताओं को नवीन स्वरूप देने के लिए था। द्विवेदी अथवा भारतेन्दु का आन्दोलन मूलतः साहित्य के बाह्य स्वरूप से सम्बन्धित रहा है पर शर्माजी साहित्य की अन्तर्शक्ति पर विचार कर रहे थे, उन्हें साहित्यिकता मान्य थी। यह दृष्टिकोण ही आलोचना-क्षेत्र में शर्मा जी का मौलिक दृष्टिकोण था।

शर्मा जी ने अपनी आलोचना का उद्देश्य बना लिया था 'बिहारी के प्रति फैली हुई भ्रान्तियों का निराकरण और उनकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन।' इसके लिए उन्होंने शास्त्रीय साहित्यिक परम्परा अपनायी। रीतिकालीन साहित्यिक चेतना का विश्लेषण किया, नवीन मानदण्डों की स्थापना की, प्राचीन सिद्धान्तों को नवीन स्वरूप दिया। शर्मा जी की विशेषता यह है कि जिन सिद्धान्तों को उन्होंने स्वीकार किया है, उन्हें केवल कागज और कलम में ही सीमित नहीं कर दिया है वरन् उनका ही प्रयोग उन्होंने अपनी आलोचना में भी किया है। काव्य की आवश्यकता, काव्य-सामान्य, रस-विवेचन, आदि निर्णयों का आधार लेते हुए शर्मा जी ने बिहारी की अन्य कवियों से तुलना करते हुए उनकी श्रेष्ठता स्थापित की है। इन स्थलों पर निर्णय लेते हुए शर्मा जी ने शास्त्रीय सिद्धान्तों की बारीकियों की ओर भी ध्यान दिया है और इन्हीं तत्त्वों पर आधारित बिहारी का काव्य-सौष्ठव प्रतिपादित किया गया है।

शर्माजी ने अपनी आलोचना को निर्णयात्मक रूप देते हुए प्रभाववादी बना दिया है और वे कुछ चन्द वाक्यांशों का प्रयोग भावावेश में कर जाते हैं। यद्यपि ये भावावेश के वाक्यांश किसी महत्त्व के नहीं हैं फिर भी उनसे आलोचक की आनन्दमयी प्रवृत्ति का संकेत मिलता है। इस शैली के द्वारा शर्माजी ने कवि की विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए अपना निर्णय प्रस्तुत किया है। पंडितजी ने अपनी आलोचना की आधारभूमि संस्कृत-साहित्य की प्रशस्त और मान्य भूमि को ही स्वीकार किया है जिसमें सहृदयता और प्रभावाभिव्यंजकता की सीमाएँ हैं। यह तो शर्माजी का सिद्धान्त था, पर आलोचना के लिए उन्होंने अन्य शास्त्रीय विशेषताओं को भी स्वीकार किया है। वे मानते थे कि काव्यसौष्ठव के लिए सामान्य सिद्धान्त से अलग होकर भी परिस्थितियों, अनुभूतियों, शास्त्रीय सीमाओं और शब्दावलियों का विवेचन किया जा सकता है और इसके बिना साहित्य की सच्ची परख नहीं हो सकती है।

शर्माजी के सामने एक और समस्या थी : मिश्र-बन्धुओं द्वारा उठाए हुए बिहारी और देव के भगड़े की समस्या। 'मिश्र-बन्धुओं ने बिहारी की अपेक्षा देव को बड़ा माना था। हिन्दी-साहित्यकारों की मान्यताओं के लिए यह एक खुली चुनौती थी। शर्माजी ने उसका उत्तर देना और उनके द्वारा फैलाई हुई भ्रान्तियों को शान्त करना ही अपना प्रमुख उद्देश्य बनाया और बिहारी की श्रेष्ठता प्रतिपादित की।

शर्माजी की इस शैली पर ही श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी'

नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ की रचना की जिसमें कवि देव को बिहारी ही कथा, अन्य कवियों की अपेक्षा भी श्रेष्ठ बताने का प्रयास किया गया। मिश्रजी में मिश्र-बन्धुओं की पुरानी ग्रन्ध-भक्ति अब नहीं रह गयी थी। उन्होंने शर्माजी के मत को मान लिया है कि कवियों को पारस्परिक 'भावसादृश्य' पर विचार करना अनिवार्य है। साथ ही, मौलिकता के नये अर्थ-विस्तार को भी मिश्रजी ने स्वीकार कर लिया है।

शर्माजी ने आलोचना के लिए बिहारी के फुटकर दोहों को लिया था और अपना तुलनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था। 'देव और बिहारी' के लेखक श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने भी इसी पद्धति को अपनाया है। देव और बिहारी के कतिपय दोहों, छन्दों को सामने रख कर उनकी विशेषताओं पर विचार करने की पद्धति का प्रयोग मिश्रजी ने भी किया है। ऐसी स्थिति में यह अनिवार्य था कि विचारों एवं सिद्धान्त-प्रतिपादन की परम्परा में मौलिकता प्रतिपादित होती, पर मिश्रजी ने अपनी आलोचना को शास्त्रीयता के साँचे में ही ढालना उपयुक्त समझा है। परिस्थिति के अनुकूल होते हुए भी मिश्रजी का यह दृष्टिकोण अपेक्षाकृत प्रगतिवादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि मिश्रजी को यह दृष्टिकोण शर्माजी से ही मिला था। शर्माजी ने फुटकर छन्दों की आलोचना के लिए विषयसाम्य को अपनाया था। विषय साम्य का यह दृष्टिकोण पूर्णतः एकांगी था और—मिश्रजी को यह एकांगीपन मान्य न हो सका। उन्होंने विषयसाम्य की प्रवृत्ति के साथ ही साथ विषम छन्दों की तुलना भी अपेक्षित समझी है। आलोचना का यह रूप सर्वाङ्गीण कहा जा सकता है। उन्हें साम्य और वैषम्य एवं विकासोन्मुखी दोनों ही तुलना के लिए स्वीकार थे, और यह सही भी है कि बिना दोनों पक्षों के सन्तुलित चिन्तन के, आलोचना पूर्ण नहीं हो सकती। साथ ही मिश्रजी कवियों की समस्त साहित्यिक विशेषताओं, चेतनाओं और शास्त्रीयता के सन्तुलित चिन्तन के पक्षपाती थे।

मिश्रजी की आलोचना-पद्धति अपेक्षाकृत अधिक संयत थी, विचारों में अधिक स्पष्ट थी और प्रतिपादन की विशेषताओं के साथ अधिक अनुकूल और सुलभो हुई थी। शर्माजी का आनन्द-प्रदर्शन इनमें न था और न थी उनकी प्रभाव-विश्लेषणी मनोवृत्ति। इस स्थान पर अवश्यमेव मिश्रजी ने अधिक संयम से काम लिया है। उन्होंने देव और बिहारी दोनों ही कवियों की वर्णन-शैली, विषयप्रतिपादन-प्रणाली, विषय-चयन, भाषा, अलंकार, रस, आदि तत्त्वों पर सन्तुलित विचार प्रकट किये हैं। देव की श्रेष्ठता के लिए उन्होंने तुलनात्मक ढंग से विषय-प्रतिपादन करते हुए अपने तर्क प्रस्तुत किये हैं। ऐसा नहीं है कि देव की कविता उन्हें व्यक्तिगत रूप में अच्छी लगती है, केवल इसी-लिए उन्होंने देव को श्रेष्ठ मान लिया हो। इतना अवश्य है कि उन्होंने अपनी इच्छा के अनुकूल परिस्थितियों का चयन करते हुए, समानान्तर तर्क प्रस्तुत किया है। साथ

ही विषय-चिन्तन के लिए मिश्रजी की शैली प्रायः परिचयात्मक ही रह गयी है। भाषा के विवेचन के स्थल पर मिश्रजी ने कई मौलिक प्रश्न उठाये हैं और उन प्रश्नों का उत्तर अपनी विश्लेषण-प्रधान शैली के माध्यम से, दोनों कवियों के उदाहरणों से दिया है।

शर्माजी ने जिस तुलनात्मक शैली का स्वरूप निश्चित किया था, वह पूर्णतः प्रारम्भिक स्वरूप था। मिश्रजी के लिए बहुत-सी समस्याएँ सुलभ गयी थीं। उन्हें उस क्षेत्र से आगे आकर कार्य करना था, जो शर्माजी ने प्रशस्त कर दिया था। भाषागत समस्याएँ सुलभ चुकी थीं। काव्यगत शास्त्रीय अध्ययन की परम्परा का प्रारम्भ हो गया था। कहने का अर्थ यह है कि मिश्रजी के लिए आलोचना का क्षेत्र अपेक्षाकृत संयत और प्रशस्त मिला था। मानी हुई बात है कि आलोचना का स्तर प्रौढ़ होगा, विचार-प्रतिपादन में निष्पक्षता होगी और स्वतंत्र विचारों के लिए भी स्थान होगा। वस्तुतः ऐसी ही परिस्थितियों में आलोचक का व्यक्तित्व निखरता है, विकसित होता है और प्रौढ़ होता है। मिश्रजी ने बाह्य उपकरणों के स्थान पर अन्तर्भावनाओं तथा काव्य की आत्मागत विशेषताओं पर अधिक बल दिया है। जिसमें प्रौढ़ विवेचन, अनुभूति, काव्य-विश्लेषण, रस, अलंकार, शक्ति आदि का तुलनात्मक स्वरूप प्रतिपादित किया गया है।

तुलनात्मक आलोचना के क्षेत्र में मिश्र-बन्धुओं ने सचमुच हो एक विवाद खड़ा कर दिया है। देव और बिहारी की कलाकृतियों को लेकर मिश्र-बन्धुओं ने देव को श्रेष्ठ बताया, पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी की श्रेष्ठता प्रतिपादित की, और कृष्णबिहारी मिश्र ने पुनः देव का प्रतिपादन किया। इसी वाद-विवाद की शृङ्खला में लाला भगवानदीन की 'बिहारी और देव' नामक कृति का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें दीनजी ने देव की अपेक्षा बिहारी को श्रेष्ठ बताया है। यह अपनी तरह की पहली कृति है जिसमें तुलनात्मक आलोचना के साथ मान्य क्षेत्र से अलग आकर आलोचक ने अपने पहले आलोचक की कृति, उसके दृष्टिकोण और उसमें अध्ययन और संयम की कमी की ओर भी संकेत किया है। दीनजी ने मिश्र-बन्धुओं द्वारा की गयी भूलों का संकेत करते हुए, उसमें संशोधन, परिष्करण अथवा नवीन अर्थों को प्रस्तुत किया है क्योंकि दीनजी के अनुसार मिश्र-बन्धुओं ने बिहारी को समझने का तनिक भी प्रयास नहीं किया था और यदि किया भी हो तो जानबूझ कर देव का पक्ष अपनाया गया है। सम्पूर्ण कृति पढ़ लेने के पश्चात् जो प्रभाव मन पर पड़ता है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि दीनजी की आलोचना मिश्र-बन्धुओं तथा कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना के प्रत्युत्तर में लिखी गयी है। यद्यपि दीनजी ने अपना पक्ष भली भाँति निभाया है फिर आलोचना का यह स्वरूप बहुत अधिक स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। नवीनता या मौलिकता के नाम पर जो कुछ मिलता है, वह है आलोचकों की कमी और उसकी आलोचना का अंश मात्र। जिस प्रकार का एकांगी दृष्टिकोण

मिश्र-बन्धुओं में दिखायी देता है, उसी की पुनरावृत्ति मात्र दीनजी में हुई है, एक देव का पक्षपाती है और दूसरा बिहारी का। इसका फल यह हुआ है कि दोनों ही—मिश्र-बन्धु और दीनजी—आलोचना के सच्चे स्वरूप को पहचान नहीं पाये हैं। दीनजी की आलोचना का इतना ही उपयोग हो सकता है कि वह वाद-विवाद, जिसका प्रारम्भ मिश्र-बन्धुओं ने हिन्दी-क्षेत्र में किया था, हमेशा के लिए शान्त हो गया है। मिश्र-बन्धुओं से लेकर दीनजी तक के समस्त देव या बिहारी-सम्बन्धी आलोचना-साहित्य को देखने पर यही निर्णय किया जा सकता है कि तुलनात्मक आलोचना के लिए अभी तक के आलोचकों का दृष्टिकोण असंयत, पक्षपातपूर्ण और रुचि-विशेष का परिचायक रहा है। इस पर केवल एकांगी और निर्णयात्मक आलोचना का विकास मात्र हो सकता है। साहित्यिक गति में किसी प्रकार का विकास नहीं आ सकता। दीनजी की आलोचना में न तो प्रभाववादी तत्त्व स्पष्ट होते हैं और न शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर निर्णयात्मक पद्धति के तत्त्व ही। इतने दिनों की साहित्यिक साधना में हिन्दी को एक संयम नहीं मिल सका है यद्यपि तुलनात्मक दृष्टिकोण को मान्यता मिल गयी है।

आलोचना की इस तुलनात्मक पद्धति ने हिन्दी के आलोचकों को मूलतः दो वर्गों में विभक्त कर दिया है, एक वर्ग बिहारी की वकालत कर रहा है और दूसरा वर्ग देव की प्रशंसा। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति शिथिल पड़ने लगी और सतर्क मस्तिष्क के लिए यह पिष्टपेषण बहुत उपयुक्त नहीं लगने लगा। साथ ही श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचकों तथा 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' द्वारा आलोचना को नया रूप, नया मोड़, दिया गया जिसे विश्लेषणात्मक आलोचना की संज्ञा दी गयी है। हिन्दी-आलोचना में आये हुए इस वाद-विवाद से तंग आकर कुछ लोगों ने अन्य भारतीय भाषाओं की ओर देखना प्रारम्भ किया। आलोचना-क्षेत्र में तब तक बंगला-साहित्य अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न हो गया था। तत्कालीन समस्याओं को सामने रखते हुए पं० रूपनारायण पाण्डेय तथा रामदहिन मिश्र ने क्रमशः 'कालिदास और भवभूति' तथा 'साहित्य-चिन्ता' नामक बँगला के आलोचना-ग्रन्थों का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया। इनमें भी सहृदयता की दुहाई के साथ बंगला के आलोचकों ने अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि का प्रतिपादन किया है जिसकी पृष्ठभूमि में पक्षपात एवं व्यक्तिगत रुचि मात्र है। इन अनुवादों का अस्पष्ट प्रभाव ही हिन्दी-साहित्य पर पड़ा है। अनुवादों की ओर आलोचकों का झुकना यह स्पष्ट संकेत करता है कि हिन्दी में उठे हुए विवादों से आलोचक ऊब गया था और उसमें आमूल परिवर्तनों का इच्छुक हो गया था। इससे हिन्दी-आलोचकों का रुचि-परिवर्तन तो अवश्य हुआ है पर उसका प्रभाव किसी कृति के रूप में स्पष्ट नहीं हुआ है। यद्यपि इन अनुवादित आलोचना-ग्रन्थों में भी तुलनात्मक दृष्टिकोण ही स्पष्ट हुआ है। सच तो यह है कि हिन्दी के लिए इसका युग बीत गया था। यदि कहीं इनका अनुवाद कुछ समय पहले हिन्दी में आया होता तो निश्चय ही साहित्य-

समीक्षा में उसका उपयोग हुआ होता पर अब तो हिन्दी विश्लेषणात्मक पद्धति की ओर बढ़ रही थी। आलोचना के नये मानदण्ड सामने स्पष्ट हो गये थे। हिन्दी में 'कालिदास और शेक्सपीयर' नामक पुस्तक इसी परम्परा में प्रस्तुत की गई जिसके लेखक श्री छत्रलाल द्विवेदी हैं; पर किसी भी प्रकार की साहित्यिक चेतना यहाँ भी दिखायी नहीं देती। हिन्दी के लिए अब इस प्रकार की शैली स्वीकार नहीं थी।

इस प्रकार तुलनात्मक आलोचना से अनेक प्रकार के विचार हमारे सामने अवश्य आये हैं, पर पक्षपातशून्यता कहीं नहीं है। आलोचना के मूल उद्देश्यों की पूर्ति इससे नहीं हो पायी है। व्यक्तिगत रुचि पर ही सारा अध्ययन टिक गया है। साहित्यिक प्रगति के संकेत कहीं भी नहीं मिलते।

हिन्दी-आलोचना और रामचन्द्र शुक्ल

प्रारम्भ से लेकर आचार्य शुक्ल के साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण करने से पहले तक हिन्दी-आलोचना में अनेक प्रयोग किये गये हैं जो उसकी प्रगति के परिचायक हैं। संस्कृत-समीक्षाशास्त्र के सामने हिन्दी-आलोचना को समाज, परिस्थिति तथा अन्य साहित्य के अनुकूल नया स्वरूप बनाना था, नई मान्यताएँ स्थापित करनी थीं। काव्य को ही क्या, समस्त साहित्यिक विधाओं को जीवन के समानान्तर रख कर, मानव की समतल भूमि पर ले आना था। आदर्शवादी दर्शन के साथ ही साथ यथार्थवादी विचार-धारा को भी प्रश्रय देना था। भाषा, विवेचन, भाव, प्रतिपादन, वर्ण्य-विषय, रूप, आत्मा तथा दार्शनिक-चिन्तन, सभी क्षेत्रों में नवीन विचारों के साथ एक संघर्ष करना था।

पहले बताया जा चुका है कि हिन्दी-आलोचना का प्रारम्भ ही एक कमी को महसूस करने के फलस्वरूप हुआ है। पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क तथा अंग्रेजी साहित्य-विचारधारा के सहवास के कारण साहित्यिक आलोचना की प्रवृत्ति हमारे साहित्यकारों में आई है। शुक्लजी के पदार्पण से पहले लगभग २५ वर्ष बीत चुके हैं कि हिन्दी में आलोचनात्मक प्रवृत्तियों का दर्शन होता है। मासिक या दैनिक पत्रों की पुस्तक-समीक्षा से लेकर स्वतंत्र ग्रन्थों के रूप में अनेक प्रयास इन दिनों हुए हैं। गुण-दोष-निरूपण के सिद्धान्त को ही पहले आलोचना मान लिया गया जो आगे चलकर एक नियम-सा बन गया है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तिगत रुचि और आक्षेपों को ही हिन्दी-आलोचना में प्रश्रय मिला है। द्विवेदीजी को इस पद्धति-विशेष से, यद्यपि भाषा का रूप निखर गया है पर अर्द्ध-विकसित भावनाओं का विकास नहीं हो पाया है। हमारे व्यक्तिगत असंयम के कारण इस पद्धति ने मूलतः आक्षेपों का रूप धारण कर लिया है। मिश्र-बन्धुओं के हाथों में आलोचना-क्षेत्र में, एक नई लहर अवश्य फैल गई है और श्रेणी-विभाजन की मौलिकता ने लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। इस श्रेणी-विभाजन के मौलिक स्वरूप के पीछे तुलनात्मक दृष्टिकोण विकसित हुआ है जिसमें मानसिक असंयम के कारण व्यक्तिगत रुचि का ही प्राधान्य हो पाया है। आलोचना को जहाँ पक्षपातशून्य होना अनिवार्य है, वहाँ हिन्दी-आलोचना के ये पहले २५ वर्ष इसी से भरे पड़े हैं।

शुक्लजी के लिए आलोचना-क्षेत्र में प्रस्तुत समस्याएँ अपेक्षाकृत स्पष्ट थीं, पर थीं जटिल अवश्य। इनसे पहले की समस्त आलोचना को आलोचक की व्यक्ति-

गत रुचि तथा उसके मनोविज्ञान का विकास भाग स्वीकार किया जा सकता है। शुक्लजी के सामने अब भाषा की समस्या न रह गई थी, शास्त्रीयता की जंजीरों भी अधिक दिनों तक अपने ही बन्धन में जकड़े रहने में अशक्त प्रतीत होने लगी थीं, नवीनता की पुकार आलोचक को अपनी ओर बुला रही थी, पाश्चात्य अनुकरण से साहित्यिक मनोविज्ञान का निर्माण एवं विकास हो रहा था और साथ ही नये-नये प्रयोगों से भाषा सशक्त और प्रौढ़-चिन्तन के अनुकूल बन रही थी। यद्यपि मिश्र-बन्धुओं से लेकर लाला भगवानदीन तक की तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति ने वाद-विवादों के फलस्वरूप पाठक में एक अरुचि पैदा कर दी थी पर नई-नई उक्तियों, तर्कों, भाव-सामंजस्य के विश्लेषणों आदि से आलोचना की भाषा सशक्त-सी हो रही थी। यह सही है कि एक असंयम विकसित हो रहा था पर उस असंयम में भी चेतना की प्रवृत्ति थी, इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। हिन्दी-समीक्षा की प्रारम्भिक अवस्था में, प्रौढ़ चिन्तन, तर्क तथा गम्भीरता का अभाव रहा है। इसका कारण केवल शास्त्रीयता का मोह और व्यक्तिगत रुचि मात्र कहा जा सकता है जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है। सच्ची आलोचना के स्थान पर अतिशयोक्तियों, असंयम एवं अलंकारिकता का ही प्रसार हो पाया है। रस और अलंकार पर आधारित भारतीय समीक्षा-सिद्धान्त सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक होने की क्षमता अवश्य रखते हैं पर अपने स्थूल रूप में नहीं, वरन् आन्तरिक विश्लेषणों के रूप में। भारतीय समीक्षा की अमरनिधि की उपेक्षा कभी भी नहीं की जा सकती पर उन्हें समय के अनुकूल बना कर ही स्वीकार किया जा सकता है। हिन्दी आलोचना के लिए यह एक पैतृक सम्पत्ति है जिसके उपभोग के लिए हिन्दी-आलोचक को अध्ययन का संयम अनिवार्य है। यहाँ मनमानी नहीं बरती जा सकती। अपनी रुचि के अनुसार उनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। साथ ही यदि हिन्दी का आलोचक केवल शास्त्रीयता की पुकार मचा रहा है और नवीनता की उपेक्षा कर रहा है तो भी वह आलोचना एकांगी और दोषपूर्ण होगी, क्योंकि आज का आलोचक मनोविज्ञान के बिना एक कदम भी नहीं चल सकता। आज आलोचना की सीमाएँ विश्लेषण, विवेचन तथा निगमन में निहित हो गई हैं। रस, अलंकार, शब्द-शक्ति, वक्रोक्ति या स्वभावोक्ति के साथ इन आधुनिकतम तत्त्वों की भी अब उतनी ही उपयोगिता है। प्रारम्भिक हिन्दी-आलोचना की जो सब से बड़ी कमी है, वह यह है कि उस समय आलोचक बाह्य रूपों में ही उलझ गया है, और इस प्रकार काव्य की आत्मा की उपेक्षा हो गई है।

यद्यपि हिन्दी-आलोचना के बहुत दिन नहीं बीत गये थे पर वह अपने में ही सीमित हो जाने के प्रयास जैसा लग रहा था। साहित्य और जीवन में पारस्परिक सम्बन्ध मानने के लिए साधारणतः लोग तैयार न थे। द्विवेदीजी ने इसका विरोध भी किया था पर आलोचकों द्वारा वह स्वीकृत नहीं हो पाया। इसके साथ ही, द्विवेदीजी

का क्षेत्र भाषा के स्वरूप का परिष्करण बन गया। शेष आलोचकों के सामने रीति-युग की काव्य-चेतना ही आलोच्य बन सकी। उन्हें, विशेषकर, देव और बिहारी ही सर्वश्रेष्ठ मालूम होने लगे। अधिक से अधिक मतिराम तक काव्य-सौष्टव की सीमा बन गई। अनुवादों की स्वीकृति के पश्चात् किन्हीं अन्य साहित्यकारों से हिन्दी-आलोचना-संसार पहली बार 'कालिदास और शेक्सपीयर' द्वारा परिचित हुआ है। सूर और तुलसी के काव्य धर्मप्रचार के ग्रन्थ कह कर टाल दिये गये। उनके काव्य-सौष्टव पर किसी प्रकार का विचार नहीं किया गया। प्रारम्भ में मानस-सम्बन्धी कृतियों के दर्शन अवश्य होते हैं पर उन्हें टीका, दर्शन और धर्मसिद्धान्तों के साथ रख कर, बाद के आलोचकों ने पुनः इन पर विचार नहीं किया है*। वस्तुतः हिन्दी को एक विचारशील आलोचक की आवश्यकता थी। श्री शुक्ल की आलोचना इस साहित्यिक आवश्यकता की ही प्रतिक्रिया है।

(दोष, गुण, कथन, निर्णय और तुलनात्मक दृष्टिकोण की आलोचना के सिद्धान्त से जिस प्रकार का असंयम हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में उठ खड़ा हो गया था, उसका प्रभाव पाठकों और नये लेखकों पर पड़ रहा था। आचार्य शुक्ल के सामने यह समस्या अपेक्षाकृत सुलभ ही हुई थी कि आलोचना में व्यक्तिगत रुचि कम और विवेक, तर्क, निष्पक्षता, जीवनगत-दृष्टिकोण एवं सहृदयता अधिक होनी चाहिए। शुक्ल जी ने इसे पूर्णतः बदलने का कार्य किया है। उन्होंने आलोचना के लिए विश्लेषण, विवेचन और विभाजन पर आधारित नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है जिसमें आलोचक की रुचि नाम मात्र की रह जाती है।) उन्होंने पहले तो यह स्पष्ट कर दिया है कि वास्तव में आलोचना क्या है और हिन्दी के आलोचक क्या कर रहे हैं। तत्कालीन आलोचकों की प्रवृत्ति की जिसमें बाह्य स्वरूप का ही प्रतिपादन ध्येय रहा है, उपेक्षा करते हुए शुक्ल जी ने आलोचना के लिए कवि की विशेषताओं, अन्तः प्रवृत्तियों, रस-निष्पत्ति, भाव-व्यंजना आदि को आवश्यक बतलाया है। इसके लिए शुक्ल जी ने अलंकार, रस आदि शास्त्रीय तत्त्वों की नयी और मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत कर साहित्य-समीक्षा का नया मानदण्ड स्थिर किया है। ('कविता क्या है' से लेकर काव्य की वास्तविक आलोचना के स्वरूप के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए, शुक्ल जी ने साहित्य और जीवन का सहज सामंजस्य भी स्थापित किया है।) पाश्चात्य विचारों के अध्ययन, विवेचन और मनन के फलस्वरूप भी शास्त्रीय विचारों को नया स्वरूप देना उसके लिए सम्भव हो सका है। पहली बार हिन्दी-साहित्य में इसका अनुभव किया गया है कि साहित्य अनुभूति का विषय है, भावों की वास्तविक भाव-भूमि है, न कि शब्दों का एक जाल मात्र। (शुक्ल जी के विचार अपेक्षाकृत पाश्चात्य साहित्य के विचार माने जा सकते हैं पर उसके व्यर्थ के मोह में उन्होंने भारतीय सिद्धान्तों का अपनापन बनाये रखने का सफल प्रयत्न भी किया है।)

(तुलनात्मक आलोचना-पद्धति में भी शुक्ल जी ने आमूल परिवर्तन कर दिया है। वस्तुतः इसकी उपयोगिता ही नष्ट हो गयी है और समय ने इसे स्वीकार नहीं किया है) इसका एकमात्र कारण हिन्दी-आलोचकों की वाद-विवाद की प्रवृत्ति है जिससे पाठक ऊब-सा गया था। रीतियुग से यों ही साहित्यकार छुटकारा पाना चाहता था और ये आलोचक वहीं पर जमे रहना चाहते थे। इसलिए भी इसमें शिथिलता आ गयी है। दूसरा कारण यह भी कहा जा सकता है कि साहित्य, व्यक्तिगत रुचि के लिए नहीं है। साहित्य में समष्टि की भावना विकसित होनी चाहिए पर यहाँ व्यक्तिगत रुचि को आलोचक पाठकों पर लाद रहे थे। अपने आश्रयदाताओं की रुचि-विशेष के लिए लिखा हुआ साहित्य समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। साथ ही, तुलसी और सूर की काव्य-कृतियों को धार्मिक कह कर अलग रख दिया गया था। उधर नागरी प्रचारिणी पत्रिका रुचि को सजाने, गवेषणा करने, तथा ऐतिहासिक सत्य की खोज में व्यस्त थी जिसका निर्देशन श्री श्यामसुन्दर दास और आचार्य शुक्ल कर रहे थे। इस पत्रिका के माध्यम से उन कवियों की कला-कृतियों, उनकी विशेषताओं और कवि के जीवन-दर्शन एवं सिद्धान्तों से साहित्यिक समाज को परिचय कराया जा रहा था जिनमें भारतीय संस्कृति की प्रेरणा विकसित हुई है (साहित्यिक समीक्षा के लिए आचार्य शुक्ल ने जिन सिद्धान्तों की ओर संकेत किया था, उन्हीं का प्रयोग स्वयं अपनी पत्रिका में किया है और उनके प्रयोगमात्र से यह स्पष्ट किया है कि वस्तुतः आलोचना का स्वरूप क्या होना चाहिए) इन्हीं दिनों विदेशी ग्रन्थेषक ग्रियर्सन ने हमें अपनी भूलों को सुधारने के लिए बाध्य कर दिया और हमारी आँखें 'रामचरितमानस' के वास्तविक महत्व पर पड़ीं। यद्यपि ग्रियर्सन की आलोचना ने हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित अवश्य किया था पर उसमें भी कुछ एकांगीपन ही दिखायी देता था (साहित्य और जीवन की समतल भूमि पर रामचरितमानस के काव्य-सौष्टव का संकेत एवं चिन्तन सबसे पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित 'तुलसीग्रन्थावली' में किया गया है)। इस परम्परागत विश्वास से, कि रामचरितमानस केवल धार्मिक ग्रन्थ है, आगे आकर शुक्ल जी ने उसे काव्य का आदर्श ग्रन्थ बताया और सिद्धान्ततः इसे स्पष्ट कर दिया कि रस-परिपाक और रस-निष्पत्ति काव्य का उद्देश्य है, विशालहृदयता और विचारपरिष्करण ही काव्य का ध्येय होना चाहिए। हिन्दी-साहित्य में सबसे पहले शुक्ल जी ने समाज को रामचरितमानस की उपादेयता का संकेत किया और स्पष्ट किया है कि हमारी संस्कृति का सब से अधिक संरक्षण इसी ग्रन्थ द्वारा हुआ है।)

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मूलतः एक युगान्तरकारी आलोचक एवं साहित्यकार थे। भाषा, भाव, रस, अलंकार, व्यक्तित्व, समाज, परम्परा आदि सभी चीजों के स्थानानुकूल प्रतिपादन के लिए नये मानदण्ड निर्धारित करते हुए, उन्होंने हिन्दी-आलोचना का मार्ग-प्रदर्शन किया है। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी-आलोचना का प्रारम्भ

ही शुक्ल जी से होता है। इन्होंने प्रयोगात्मक तथा शास्त्रीय, आलोचना की दोनों ही प्रचलित पद्धतियों को मिला कर, उसे व्यवस्थित कर, समालोचना का स्वस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इन दोनों शैलियों के सम्मिश्रण से शुक्ल जी ने कुछ नये सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं जो हिन्दी-आलोचना के लिए मानदण्ड बन गये हैं। सिद्धान्तों को सिद्धान्त के रूप में ही ग्रहण करते हुए, उनके निष्पक्ष प्रयोग मात्र से, उन्हें जो आलोचना का रूप मिला, आगे चल कर वही नये मानदण्डों के लिए पृष्ठभूमि बन गया है। शुक्ल जी की यह निगमानात्मक शैली इतनी प्रभावोत्पादक और लोकप्रिय हो गयी है कि भविष्य के लिए आदर्श का काम करने लगी है। शुक्ल जी की इस आलोचना-पद्धति की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी व्यक्तिगत मौलिकता, अध्ययन और अनुशीलन के आधार पर निर्णय पर पहुँचे हैं। उनके सामने भारतीय सिद्धान्त भी थे और योरोप का 'कला : कला के लिए' सिद्धान्त भी। उनके सामने रिचार्ड्स तथा बेनेट्सों क्रोचे का सौन्दर्य-सिद्धान्त भी था। रिचार्ड्स की भाँति ही शुक्ल जी ने काव्यानुभूति को जीवन से अलग नहीं माना है। क्रोचे का सौन्दर्य-सिद्धान्त भी उनके लिए जीवन की गहराई आँकने में सहायक हुआ है। भारतीय विचार-धारा में उन्होंने साहित्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की ओर प्रगति का रास्ता जैसा स्वीकार किया है। उन्हें योरोपीय 'कला : कला के लिए' सिद्धान्त प्रिय न लग सका और कई स्थलों पर उन्होंने उसकी आलोचना भी की है। यों तो उसकी उपयोगिता योरोप में ही उस समय कम हो गयी थी। काव्य का मानव-समाज पर प्रभाव और सम्बेदनशीलता को काव्य का उद्देश्य स्वीकार करते हुए उन्होंने संकेत किया है कि इन्हें साहित्य में परस्पर सहयोगी होना चाहिए। काव्य की आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिलाते हुए शुक्ल जी ने अनुभूति पर बहुत बल दिया है। उनकी दृष्टि में अनुभूति समस्त विश्व की वस्तु है और जब तक कवि या साहित्यकार उसे आत्मसात् कर अपनी वस्तु नहीं बना लेता है, तब तक उसकी कृति कला के वास्तविक मूल्य से वंचित रहेगी। इस अनुभूति को पाठक के लिए सहज ग्राह्य बनाने के हेतु कवि को समाज की भूमि पर आना पड़ता है और उसकी सफलता इसी में है जब कि वह अपनी अनुभूति समाज की अनुभूति से बदल सके और समाज की अनुभूति को अपनी बना सके। व्यक्तिगत राग-द्वेष के लिए काव्य में स्थान नहीं है और यदि किसी कला कृति में व्यक्तिगत राग-द्वेष प्रस्तुत हैं तो वह अनुभवशून्य, निम्न-कोटि की कृति है। व्यष्टि को समष्टि में, और समष्टि को व्यष्टि में बदल देने का नाम ही साधारणीकरण है। साहित्यकार की सफलता इसी में है। उनके विचारों में, समस्त विश्व, काव्य का वर्ण्य विषय है। साधारण-असाधारण सभी कुछ कवि की सीमा में आ सकता है। कवि का कार्य किसी भी तत्त्व को लेकर उसे भावनोचित तथा लोकसम्मत बनाने का है। इस प्रकार कवि में अनुभूति, भावुकता और कल्पना का सहज सामंजस्य होना चाहिए।)

(शुक्लजी ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। शब्द-शक्तियों से परिचालित मनोरंजन-प्रधान पदावली काव्य कहलाने की क्षमता नहीं रखती है। परम्परा से आयी हुई विचारधारा को नवीन दृष्टिकोण एवं व्याख्या देते हुए शुक्ल जी ने 'चमत्कार' शब्द को केवल उक्ति-वैचित्र्य के रूप में स्वीकार किया है। इस चमत्कार से मन में एक आह्लाद की लहर उठनी चाहिए और उसी के फल-स्वरूप रस-निष्पत्ति के साथ-साथ मनोरंजन भी होना चाहिए।

शुक्ल जी, काव्य में अलंकारों के प्रयोग के पक्षपाती नहीं, तो विरोधी भी नहीं हैं। साथ ही वे अलंकार के नाम पर केवल शाब्दिक खिलवाड़ नहीं चाहते) (उनका कहना है कि रस और भावों के अनुकूल अलंकारों का विधान होना चाहिए और कवि को सर्वदा इसका ध्यान रखना चाहिए कि उसके द्वारा प्रयुक्त अलंकार कहीं रस-निष्पत्ति में बाधक तो नहीं होता जा रहा है।) (अलंकारों के विषय में विचार प्रकट करते हुए शुक्ल जी ने स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति पर भी ध्यान दिया है और अपने विश्लेषण में यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रस्तुत वस्तु के रूप, क्रिया आदि के वर्णन को रसक्षेत्र से घसीट कर अलंकार-क्षेत्र में ले जाना अभिप्रेत नहीं है। स्वभावोक्ति के विषय में भामह आदि आचार्यों का मत स्वीकार करते हुए शुक्लजी ने वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति में एक साम्य प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है।)

(शुक्लजी ने कवि, काव्य और उसकी उपयोगिता के प्रश्न पर बड़ी ही गम्भीरता से विचार किया है) 'मूलतः काव्य क्या है' के प्रश्न को लेकर ही साहित्य-समीक्षा का जन्म होता है और आज तक भी इसी का प्रौढ़ चिन्तन किया जा रहा है। हाँ, इतना ही नया है कि काव्य को जीवन की समतल भूमि पर ले आने का प्रयत्न किया गया है। काव्य और जीवन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जीवन का ही विवेचन काव्य है। सच तो यह है कि काव्य की मूलभूत अन्तःशक्ति जीवन से ही निःसृत है और उसी के गहन चिन्तन में काव्य की सार्थकता है। आदर्श और यथार्थ, ये जीवन के दो पहलू हैं। आदर्श, हमारी कमजोरियों के सहज सामान्य का प्रतीक है और यथार्थ हमारा नित्य का जीवन। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हम उन्हीं चोजों को अपना आदर्श बनाते हैं, जिनकी उपलब्धि किसी भी रूप में सही, हमारा ध्येय होता है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति व्यष्टि से समष्टि की ओर बढ़ता जाता है, उसका आदर्श उसी के समानान्तर बदलता जाता है या भिन्न हो सकता है। यथार्थ तो प्रतिक्षण का जीवन है, हमारे सामने है। साहित्य की परिधि इसी समक्ष प्रस्तुत वस्तु-स्थिति से लेकर समष्टिगत आदर्श तक की है। कवि को इन्हीं वैयक्तिक या समष्टिगत आदर्शों या यथार्थ प्रतीकों को अपने पाठक के हृदय में ज्यों का त्यों उतारना है, एक सजीव चित्र उपस्थित करना है। इस चित्रांकन के लिए कवि के पास सक्षम भाषा का होना

अनिवार्य है । (शुक्लजी ने भाषा के प्रश्न को इतना स्पष्ट कर दिया है कि द्विवेदीजी द्वारा उठाया हुआ आन्दोलन धीरे-धीरे शिथिल पड़ गया है । उनका कहना है कि काव्य की भाषा और साधारण बोलचाल की भाषा में अन्तर होना चाहिए ।) यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आचार्य द्विवेदी ने भाषासम्बन्धी आन्दोलन व्रजभाषा और हिन्दी खड़ी बोली को लेकर उठाया था । शुक्ल जी से पूर्व ही यह विवाद समाप्त हो गया । अब प्रश्न है तो केवल हिन्दी खड़ी बोली के साहित्यिक और बोलचाल के रूप का है । इससे भी एक कदम आगे आकर शुक्लजी ने काव्य और शास्त्र की भाषा में भी विषय-विवेचन की अनुकूलता के कारण, अन्तर स्वीकार किया है । शास्त्र में यथार्थ अर्थ अभिप्रेत होता है और काव्य में आदर्श अर्थ । इसलिए कवि को कल्पना का सहारा लेना होता है । कल्पना के सहज संयोग से मूर्त और अमूर्त, प्रस्तुत या सम्भावित—दोनों ही काव्य-जगत् की वस्तु बन जाते हैं । कवि शब्दों के माध्यम से चित्र बनाता है, शक्ति के रूप में कल्पना का प्रयोग करता है और ध्वनि के माध्यम से चित्र को पाठक के मानस-पटल पर उतारता है । यही है कवि-कर्म और काव्य-विधान की पृष्ठभूमि ।

रस, काव्य का अनिवार्य तत्त्व है । (शुक्लजी ने रसदशा को हृदय की मुक्तावस्था बतलाया है । रसदशा और ज्ञानदशा में साम्य स्थापित करते हुए उन्होंने, हृदय की मुक्ति के लिए किये हुए शब्द-प्रयास को ही कविता माना है ।) मन की यह साधना भावभोग कहलाती है और दर्शन के ज्ञान या कर्मयोग की समभूमि पर है । इस प्रकार शुक्लजी मानते हैं कि काव्य, साधना की देन और अनुभूतियों का क्रीडा-क्षेत्र है । ये अनुभूतियाँ जब तक व्यक्तिगत या लौकिक हैं, तब तक स्वार्थ की धूमिल छाया उन्हें घेरे रहती है और जब ये अनुभूतियाँ स्वार्थ से बाहर निकल, समष्टि का केन्द्र बन जाती हैं, तब काव्यानुभूति कहलाती हैं । अतः काव्य के लिए अनुभूति, कल्पना, अध्ययन और अनुशीलन आवश्यक तत्त्व हैं ।

(शुक्लजी ने काव्य को कल्पना-जगत् की वस्तु स्वीकार किया है । पाश्चात्य साहित्य की यह विचारधारा विश्व के समस्त साहित्य के लिए उपयुक्त हो सकती है पर वे इसे कभी भी स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि काल्पनिक जगत् की वस्तु कवि और कविता-प्रेमी दोनों को पलायनवादी बना देगी । शुक्लजी ने इसका खुला विरोध किया है । वे मानते हैं कि कविता कल्पना की देन है ; पर क्या इस प्रकार की कल्पना मानव कर सकता है जिसके अस्तित्व की भूमिका भी उनके सामने स्थिर न हो सकी हो) यथार्थ और आदर्श दोनों एक-दूसरे के पूरक मात्र हैं । यथार्थ के बिना आदर्श की कल्पना नहीं हो सकती और आदर्श के काल्पनिक स्वरूप का व्यावहारिक रूप ही यथार्थ बनता है । इस प्रकार आदर्श के पीछे या काव्यानुभूति के पीछे, भावना-तत्त्व कार्य करता है और मानव को प्रगति भावना-तत्त्व से मिलती है, बुद्धि-तत्त्व से नहीं । किसी वस्तु

के शुद्ध ज्ञान या विवेक से कर्म की उत्तेजना नहीं होती, उसके लिए तो मन में एक आवेग की आवश्यकता है। यही आवेग भावना है जिसकी पृष्ठभूमि कल्पना में सँजोयी गयी होती है। (शुक्लजी मानते हैं कि कविता अपने भाव-प्रसार और संयम से व्यक्ति को कर्मण्य एवं शीलवान् बनाने के लिए तत्पर करती है। शुक्लजी की यह मान्यता पाश्चात्य साहित्य के समीक्षा-सिद्धान्तों के विरोध में, साथ ही पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण करने वाले आलोचकों को चुनौती के रूप में, हिन्दी-साहित्य में मौलिक ढंग से स्वीकार की गयी।) इस विचार-धारा के प्रतिपादन में उन्होंने शास्त्रीय सिद्धान्तों को मौलिक रूप प्रदान किया है। उनके काव्य का नया स्वरूप हो गया है। परम्परा से चला आया विश्लेषण नवीन बन गया है और नवीन कहा जाने वाला, अनुकरण पर आधारित पाश्चात्य सिद्धान्त शास्त्रीय विश्लेषण में खो गया है। (काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए शुक्लजी ने लिखा है कि काव्य द्वारा समस्त विश्व से रागात्मक सम्बन्ध हो सकता है, विश्वबन्धुत्व की भावना प्रगति पा सकती है, मानव सबल और उत्तरदायी बन सकता है, मानवता विकसित हो सकती है, और मानव कर्मण्य बनता है। विवेक, तर्क, संयम, धैर्य और व्यवहारविज्ञता के सन्देश से पूर्ण काव्य ही मानवता का प्रतीक बन सकता है। इतना ही नहीं, वरन् शुक्लजी तो यहाँ तक मानते हैं, कि कविता द्वारा ही मानव के मनोविकार परिष्कृत हो सकते हैं।)

(यद्यपि शुक्लजी ने कोई स्वतंत्र समीक्षा-शास्त्र नहीं लिखा है फिर भी हिन्दी क्षेत्र में फैली हुई भ्रान्तियों को यथासम्भव स्पष्ट करने तथा मिटाने का प्रयत्न किया है। 'रस-मीमांसा' नामक पुस्तक अभी थोड़े दिनों पहले प्रकाशित अवश्य हुई है जिसे हम केवल प्राचीन विचारों का संग्रह एवं संकलन मात्र कह सकते हैं। रस-सम्बन्धी वे विचार, जिनको शुक्लजी ने अपने फुटकर निबन्धों अथवा 'चिन्तामणि' के निबन्धों में व्यक्त किया था, उन्हीं का परिष्करण एवं प्रतिपादन रस-मीमांसा में भी किया गया है। काव्य-सामान्य पर तो उन्होंने फुटकर निबन्ध ही लिखे हैं पर साहित्यिक विधाओं के चिन्तन का उन्हें पूर्ण अवसर हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखते समय मिल गया है। इतिहास में शुक्लजी ने हिन्दी की साहित्यिक विधाओं का विवेचन अपेक्षाकृत पूर्ण स्पष्ट एवं संयत किया है, यद्यपि विचारधाराओं तथा ऐतिहासिकता दोनों को मिलाकर शुक्लजी ने इतिहास लिखा है। काव्यों के वर्गीकरण में इतिवृत्त, वस्तु, भाव-व्यंजना आदि अवयवों पर विचार किया गया है और इन्हीं के अनुसार प्रबन्ध और मुक्तक, काव्य के दो भेद हो जाते हैं।) प्रबन्ध-काव्य जीवन का पूर्ण चित्र होता है (मुक्तक और प्रबन्ध-काव्यों के वर्गीकरण में भी शुक्लजी ने रस को ही आधार स्वीकार किया है। उनके विचारों में प्रबन्ध-काव्यों में रस की पूर्ण निष्पत्ति होती है, रस-धारा अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित होती है पर मुक्तक काव्य में इसके छोटे मात्र होते हैं। साथ ही मुक्तक काव्य की विशेषता उसकी भाव-व्यंजना में है।)

(काव्य के इस रूपात्मक वर्गीकरण के अतिरिक्त भावना तथा दर्शन को आधार मान कर शुक्लजी ने काव्य को साधनावस्था और सिद्धावस्था के दो काव्य-वर्गों में विभक्त कर दिया है।) मानव के आन्तरिक मनोविकारों, इच्छाओं तथा मंगलभावनाओं को आधार स्वरूप ग्रहण करते हुए ही इस प्रकार का वर्गीकरण किया गया है। साधनावस्था के काव्य प्रयत्नपक्ष के काव्य हैं जिनमें मनोविकार अपने संयत रूप में प्रतिपादित एवं विकसित होते हैं तथा आनन्द एवं मंगल-भावना की चरम अभिव्यक्ति सिद्धावस्था के काव्यों के प्रमुख गुण हैं।

(सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य को पद्य तथा गद्य में विभक्त कर विभिन्न विधाओं के स्वरूप, उनकी आवश्यकता आदि पर भी विशद विवेचन शुक्ल जी ने किया है। इस प्रकार का प्रयत्न हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र के लिए पहला प्रयास था।) उन्होंने अन्य साहित्यिक विधाओं का विवेचन इतिहास में ही परिचयात्मक ढंग से दिया है। इस कारण उनका पूर्ण विवेचन तो नहीं हो पाया है पर जो कुछ भी है, हिन्दी के आने वाले आलोचकों का मार्गप्रदर्शन कर सकने में पूर्ण सक्षम है। आज तक भी उन संकेतों की उपयोगिता बनी हुई है। मूलतः शुक्लजी ने काव्यपरम्परा की दृष्टि से ही हिन्दी-साहित्य के इतिहास की रचना की है, इसलिए हिन्दी-गद्य का पूरा स्वरूप निखर नहीं पाया है। आज के आलोचक को गद्य के प्रति शुक्ल जी की उदास प्रवृत्ति कुछ खटकती है, पर ऐसे समय सम्भवतः वह भूल जाता है कि शुक्ल जी हिन्दी के संघर्ष-युग में कार्य कर रहे थे, जब कि साहित्यकारों के लिए निर्देशन, नियमन आदि की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ भी अनिवार्य सी थीं।)

(आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के भाषा-आन्दोलन को नया रूप देने हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसे इस योग्य बना दिया है कि हिन्दी द्वारा समस्त प्रकार के विचार प्रकट किये जा सकें।) उस समय ब्रजभाषा के साहित्यिक वकीलों की यह दलील थी कि हिन्दी मनोभावों को चित्र देने में असमर्थ है और उसमें ब्रजभाषा के समान भावों की सक्षमता, मनोविकारों का गम्भीर चिन्तन और मनोविज्ञान के अनुकूल शब्द-भण्डार नहीं है। शुक्ल जी ने इस आक्षेप को निर्मूल और नितान्त भ्रमात्मक सिद्ध कर दिया है। (शुक्ल जी, आलोचक और सिद्धान्तशास्त्री होने के साथ ही एक कुशल एवं सुलझे हुए निबन्धकार भी थे। अपने निबन्धों की भाषा और उनमें प्रतिपाद्य विषय को साहित्यिक समाज के सामने रख कर, कुछ इने-गिने हिमायती साहित्यिकों के प्रगतिशील असंयम को रोकने का कार्य भी शुक्ल जी ने किया है। उनका विचार है कि भाषा की सरलता और गम्भीरता लेखक के संयम और प्रतिपाद्य विषयक प्रौढ़-चिन्तन पर निर्भर करती है। हिन्दी लोकभाषा और साहित्यिक भाषा साथ ही साथ हो सकती है।) पर यह ध्यान रखना चाहिए कि लोकभाषा में सुरुचि पैदा करने की शक्ति कम होगी।

विषय के समानान्तर प्रतीकों का विधान ही साहित्यिक का सब से बड़ा उत्तरदायित्व है। शुक्ल जी का कहना था कि यदि किसी लेखक में या कवि में विषय के अनुकूल शब्द-चित्र बनाने की क्षमता नहीं है तो उसे साहित्य का क्षेत्र शोभनीय नहीं है। उसे साहित्य-चर्चा के स्थान पर कुछ और करना चाहिए। अपने इस कथन की पूर्ति शुक्लजी ने केवल शब्दों द्वारा ही नहीं, वरन् अपने प्रयोगों द्वारा भी की है।

(आचार्य शुक्ल ने साहित्यशास्त्रियों की भाँति ही काव्य के आवश्यक तत्त्वों का विचार किया है। साहित्य की अन्य विधाओं का वर्गीकरण, आवश्यकता और स्वरूप-चिन्तन उन्होंने शास्त्रीय-परम्परा और मान्यता के साथ नवीनतम विचारों से किया है।) साहित्य-समीक्षा की आवश्यकता और तत्त्वों पर तो परम्परा से विवेचन हो रहा था, पर हिन्दी में न तो अभी तक उसका स्वरूप स्पष्ट हुआ था और न उनकी विभिन्न शैलियों पर ही स्वतंत्र रूप से विचार किया गया है। (शुक्लजी ने आलोचना का नया मानदण्ड स्थिर करने के साथ ही आलोचना को नया स्वरूप भी प्रदान किया है, ऐतिहासिक मान्यताएँ प्रदान की हैं, उसको साहित्यिक स्वरूप दिया है। अपने निश्चित किये हुए सिद्धान्तों को प्रयोग में लाकर आलोचक और आलोचना का क्षेत्र निर्धारित करने और निर्देशन का काम भी उन्होंने किया है।)

(हिन्दी-आलोचना का स्वरूप निश्चित करते समय शुक्लजी के सामने हिन्दी का आलोचनात्मक साहित्य, परम्परा से मिले हुए सिद्धान्त, पाश्चात्य आलोचना की पद्धतियाँ और स्वयं का चिन्तन था।) हिन्दी के आलोचनात्मक साहित्य में तुलनात्मक पद्धति, का स्वरूप निश्चित हो चुका था, जो अभी तक केवल वाद-विवाद का केन्द्र बन रही थी। (शुक्लजी को भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों से रस, ध्वनि, अलंकार आदि मिला था, पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन और अनुशीलन से नया दृष्टिकोण तथा स्वयं चिन्तन से मिली थी, व्यक्तित्व-निर्माण की शक्ति। शुक्लजी ने पाश्चात्य आलोचनात्मक साहित्य के निर्णयात्मक, निगमनात्मक और प्रभावाभिव्यंजक, तीन वर्गों को मान्यता दी है। उन्होंने बड़े ही सुलभे हुए ढंग से इसकी विशेषताओं की ओर भी आलोचकवर्ग को सतर्क किया है।) निर्णयात्मक आलोचना में आलोचक मान्य सिद्धान्तों एवं परम्पराओं के आधार पर किसी कलाकृति की परख करता है; कवि के उद्देश्य और विचार, सिद्धान्तों के सामने नगण्य से रहते हैं। निगमनात्मक आलोचना में कलाकृति को ही सामने रख कर उसी की विशेषताओं पर आधारित सिद्धान्त बनाये जाते हैं और प्रभावाभिव्यंजक पद्धति में कृति, कवि, सिद्धान्त और तत्त्वों की अपेक्षा आलोचक की भावना तथा व्यक्तिगत रूचि अधिक स्पष्ट होती है। शुक्लजी ने पाश्चात्य समीक्षा की इन तीनों शैलियों में निगमनात्मक पद्धति को अधिक स्थान दिया है। उनका कहना है कि कवि के व्यक्तिगत प्रभावाँ तथा व्यक्तित्व से अधिक कलाकृति का विश्लेषण अपेक्षित है।

‘साहित्य समाज का चित्रण है साहित्य विषयक यह सर्वमान्य मत है । इसके अनुसार किसी भी कलाकृति में विभिन्न परिस्थितियाँ, उनसे प्रभावित साहित्यकार की व्यक्तिगत मनोवृत्ति, तथा उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट निखर कर आता है (अतः विवेचन एवं विश्लेषणों के माध्यम से प्रस्तुत कलाकृति और कवि का मूल्यांकन करना ही शुक्लजी ने अधिक उचित समझा था) इस प्रकार के आलोचक का कार्य केवल सिद्धान्तों से नहीं चल सकता क्योंकि सिद्धान्त वस्तुस्थिति के विश्लेषणों के लिए नहीं होते, उनके लिए आवश्यकता है अध्ययन और अनुशीलन की, नित्य-प्रति की प्रगति की, और साथ ही तत्कालीन इतिहास की, जिस समय साहित्य का निर्माण हुआ है । यदि कोई आलोचक तुलसीदास की रचनाओं का विश्लेषण और परीक्षण, आज के समाज में रख कर, आज की परिस्थितियों के प्रकाश में करता है तो इसे उचित न्याय नहीं कहा जा सकता । हम न्याय तो तब कर सकेंगे जब कि तत्कालीन इतिहास में इस तथ्य का उद्घाटन करें कि वस्तुतः इस प्रकार की रचना की वस्तुस्थिति-गत आवश्यकता क्या थी । साथ ही आलोचक को उसका हृदय-पक्ष भी देखना आवश्यक है कि रामचरितमानस या अन्य कृतियों में मानव के मनोविकारों का विश्लेषण कैसे किया गया है, उसमें हृदय को स्पन्दित कर देने की क्षमता है या नहीं । मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि विश्लेषणात्मक पद्धति में मूलतः कलाकृति को अपना आधार बनाया जाता है, जिसके लिए इतिहास, मनोविज्ञान तथा सौन्दर्यशास्त्र का समुचित ज्ञान आवश्यक है । (शुक्ल जी का मत है कि आलोचक विद्वान् अधिक होता है और भावुक कम । इस क्षेत्र में उसकी बुद्धि को अधिक काम करना पड़ता है और उसे वस्तुस्थिति पर बड़ी तीखी नजर रखनी पड़ती है ।) प्रभाववादी आलोचना में आलोचक की दृष्टि कलाकृति द्वारा पाठक के मन पर पड़े हुए प्रभावों को ही लेती है । निर्णयात्मक या विश्लेषणात्मक पद्धति की भाँति कलाकृति की विभिन्न विशेषताओं का कोई मूल्य प्रभाववादी आलोचना में नहीं होता । इसमें न किसी प्रकार का सिद्धान्त प्रयुक्त होता है और न विवेचन अथवा विश्लेषण । वस्तुतः हृदय ही इस प्रकार की आलोचना की कसौटी होती है । शुक्ल जी ने न तो सिद्धान्तों पर आधारित निर्णयात्मक पद्धति को पूर्णतः अपनाया और न प्रभावाभिव्यंजक पद्धति को ही । इन दोनों को यथास्थान स्वीकार करते हुए विवेचन और विश्लेषणों द्वारा मूल्यांकन करना ही उन्होंने अपेक्षित समझा है ।

(आचार्य शुक्ल की आलोचना को एक प्रकार से ‘प्रयोगात्मक आलोचना’ ही कहा जा सकता है ।) अन्तर केवल इतना है कि प्रयोगात्मक आलोचना के प्रारम्भिक रूप में परम्परा से आए हुए सिद्धान्तों का प्रयोग किया गया है और शुक्लजी ने आलोच्य कलाकृति के विश्लेषण से कुछ मानदण्ड निर्धारित कर लिये हैं और समस्त आलोचना-साहित्य में, थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ, उसी का प्रयोग भी किया है । उन्होंने साहित्य के

वर्गीकरण के लिए भी जो मान निश्चित किये हैं, वे सभी प्रायः विश्लेषणों की ही देन हैं। समस्याओं पर विचार करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि यदि चिरन्तन एवं समष्टि की समस्या को लेकर चलने वाला साहित्य बुद्धि और हृदय से सफल सामंजस्य नहीं कर पाया है तो उसे उत्कृष्ट साहित्य नहीं कहा जा सकता। उनका विचार है कि किसी भी उत्कृष्ट रचना के लिए समाज, बुद्धि, हृदय और आदर्शों का सफल सामंजस्य होना आवश्यक है और इसी को मान-दण्ड मानते हुए आचार्य शुक्ल ने तुलसीकृत 'रामचरितमानस' को हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट रचना बतलाया है। साथ ही शुक्ल जी को किसी भी भाँति नीति, शील अथवा लोक-धर्म की उपेक्षा स्वीकृत नहीं है। इन्हीं तत्त्वों को लेकर शुक्ल जी ने अपनी आलोचना के मान भी बनाए हैं जिसकी पृष्ठभूमि प्रौढ़ चिन्तन, अध्ययन, अनुभव, शास्त्रीयता, भावुकता और संयत शास्त्र-ज्ञान के सहयोग से बनी है।

शुक्ल जी ने न तो सिद्धान्तों की उपेक्षा की है और न पूर्णतः प्रभावों की) हाँ, केवल उसे नया स्वरूप अवश्य दे दिया है। सिद्धान्तों का जहाँ तक प्रश्न है, शुक्ल जी ने परम्परा से आये हुए सभी सिद्धान्तों को उसी रूप में स्वीकार भी नहीं किया है। उन्होंने सिद्धान्तों से किसी कलाकृति की परख नहीं की है वरन् आलोच्य कृति की विशेषताओं पर ही नये सिद्धान्तों को स्वरूप दिया है और उन्हीं का प्रयोग अपनी आलोचना के लिए किया है। उसी प्रकार रसानुभूति को स्वीकार करते हुए हृदय-पक्ष की मान्यता भी उन्होंने की है। विवेचन और विश्लेषण, उनकी आलोचना के अस्त्र-शस्त्र हैं। इस प्रकार आचार्य शुक्ल की आलोचना-पद्धति में तीनों पाश्चात्य पद्धतियों का सम्मिश्रण है।) H801.9/P18H P.G.4 44.9

(शुक्ल जी ने सिद्धान्त-निरूपणों एवं विश्लेषणों में अध्ययन, अनुभव अथवा मनन की उपेक्षा नहीं की है। उन्होंने कभी भी अपनी रचि के अनुसार सिद्धान्त निश्चित नहीं किया है वरन् विशेषताओं की संप्राण पृष्ठभूमि पर अध्ययन और अनुभव का आधार लेते हुए प्रयोगात्मक प्रणाली से आलोच्य कृति को सामने रख कर जो निष्कर्ष निकाले गये हैं, वे ही सिद्धान्त का रूप पा गये हैं।) इससे यह संकेत नहीं ले लेना चाहिए कि यदि कलाकृति और शास्त्रीय सिद्धान्तों में किसी प्रकार का प्रयोगात्मक अन्तर आ गया है तो शुक्ल जी का आलोचक व्यक्तित्व उसे स्वीकार करते हुए सिद्धान्त एवं शास्त्रीयता की उपेक्षा कर जाय। ऐसे स्थलों पर शुक्ल जी का अध्ययन मुखर हो गया है। तर्क-वितर्क के जाल से छुन कर जो कुछ बच पाया है, वह मोती की भाँति किसी भी व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। पर साथ ही, आलोचक शुक्ल ने साहित्यकार की इस रचि-विशेष को उसकी अव्यवस्था कह कर स्वीकार किया है। शुक्ल जी की आलोचना सर्वदा निष्पक्ष ढंग से, प्रयोगात्मकता एवं सैद्धान्तिकता का

संज्ञा समन्वय है) व्यक्तिगत रूप में स्वीकृत या मान्य सिद्धान्तों का विवेचन प्रयोगात्मक आलोचना के स्थलों पर ही मिलता है।

किसी भी साहित्यिक कृति के पीछे कुछ न कुछ उद्देश्य होता है। शुक्ल जी ने साहित्य को रसमय मानते हुए उसके मूल्यांकन की व्यवस्था पर ही अपनी आलोचना को प्रगतिपूर्ण बनाया है। इसीलिए आलोचना-साहित्य को भी सोद्देश्य मानते हुए उन्होंने उसके रूपात्मक और मूल्यवादी, दो भेद कर दिये हैं। रूपात्मक प्रयोगवादी आलोचना का क्षेत्र साहित्य की स्वरूप-सम्बन्धी विशेषताओं तक सीमित कर दिया है और सोद्देश्यीय आलोचना का मूल तत्त्व 'रस' या भारतीय मर्यादाओं का संकेत बतलाया है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि सभी परिस्थितियों में मानव की मानसिक स्थिति एक सी नहीं रह सकती और एक परिस्थिति के परिणामस्वरूप निश्चित विचारधारा का दूसरी परिस्थिति में प्रयोग नहीं किया जा सकता। शुक्ल जी की आलोचना में इस मनोवैज्ञानिक सत्य की उपेक्षा अवश्य हो गयी है जिसे हम एक भूल ही कहेंगे। जिस विचारधारा का आधार उन्होंने भक्तियुगीन कवियों की साधना की परख करने के हेतु लिया है, उसी का प्रयोग छायावादी रचनाओं की साहित्यिकता के मूल्यांकन के लिए किया है। स्पष्ट है कि छायावादी रचनाओं के साथ शुक्ल जी ने पूर्णतः न्याय नहीं किया है। साथ ही कहीं-कहीं शुक्ल जी ने सिद्धान्तों का हठात् प्रयोग किया है। सूर, तुलसी या रीतिकालीन साहित्य की परख के विषय में भी कहीं-कहीं शुक्ल जी ने शास्त्रीय परम्परा को देखना चाहा है और उन सिद्धान्तों को आरोपित कर दिया है। इसे हम केवल व्यक्तिगत रुचिमात्र ही मान सकते हैं, क्योंकि कलाकृति के साथ कलाकार के व्यक्तित्व की अवहेलना नहीं की जा सकती और साथ ही, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के बीच जिस प्रकार का व्यक्तित्व बनता है, वह समय-विशेष का प्रतीक होता है। समीक्षक यदि कलाकृति के मोह में साहित्यकार के व्यक्तित्व की उपेक्षा कर जाता है तो निश्चय ही अपना उत्तरदायित्व पूरा नहीं निभा पाता है। यदि शुक्ल जी जैसे आलोचक तुलसी और प्रसाद के व्यक्तित्व को भुला कर केवल, आलोच्य कृति तक ही अपनी दृष्टि सीमित रखते हैं, तो निश्चय ही आलोचना अंधूरी है, विचार एकांगी हो गये हैं और उनके व्यक्तित्व को नवीनता के प्रति सन्देह है।

यह सही है कि शुक्ल जी के हाथों में हिन्दी-आलोचना ने एक नया रूप अवश्य पाया है, आलोचना-पद्धति में निखार आया है, प्रौढ़ता आई है, जीवन की मान्यता प्रतिपादित हुई है और व्यक्तिगत प्रभावों के स्थान पर कलाकृति को सम्मान मिला है। इतना ही नहीं, वरन् आलोचना को साहित्यिक विधा मान कर उसका स्वरूप-चिन्तन भी हुआ है। गद्य-साहित्य की इस पद्धति पर

इससे पहले सैद्धान्तिक ढंग से विवेचन हुआ था। डॉ० श्यामसुन्दरदास आचार्य शुक्ल के समकालीन और सहयोगी ही थे। उन्होंने जो वर्गीकरण किया है, आलोचना के विभिन्न प्रकारों का विवेचन किया है, वह उस विशेष विचारधारा की ही देन है, जिसके कर्णधार के रूप में आचार्य शुक्ल कार्य कर रहे थे। पुस्तक-परिचय और आक्षेपों से भरी आलोचना, जिसका संकेत महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय में मिलता है, शुक्ल जी के समय तक पूर्णतः विलीन हो गई है। कलाकृति, वर्ग, परिस्थिति तथा ऐतिहासिक सत्यता, सभी का स्थान आलोचना में निश्चित हो गया है। हाँ, एक विशेष बात भी इस समय हुई है कि सैद्धान्तिक परम्परा शास्त्रीयता के नाम पर संमित नहीं रह गयी है, उसकी पृष्ठभूमि में प्रौढ़ चिन्तन, अध्ययन और अनुभव भी आ गये हैं। विशेषताओं के संकेत मात्र का स्थान मूल्यांकन ने ले लिया है।

(शुक्लजी ने आलोचना को पूर्णतः वैज्ञानिक बना दिया है। उनकी विश्लेषणात्मक पद्धति में परम्परा से चली आई परिचयात्मक, निर्णयात्मक अथवा तुलनात्मक पद्धतियाँ समा गई हैं।) वैयक्तिक रुचि को भी प्रौढ़-चिन्तन और अनुभव ने एक अनोखा रूप दे दिया है। परिणामस्वरूप समीक्षा को एक स्थायी रूप मिल गया है, उसका अपना दर्शन बन गया है, एक दृष्टिकोण निश्चित हो गया है और साथ ही प्रौढ़ता प्रतिपादित हुई है (शुक्लजी ने समालोचना में एक क्रान्ति अवश्य उत्पन्न कर दी है पर कहीं-कहीं उनके विचारों का एकांगीपन अवश्यमेव अखरने लगता है। यह सत्य है कि हिन्दी-आलोचना के लिए आज भी शुक्लजी के विचार दिग्दर्शक का कार्य कर रहे हैं क्योंकि अभी तक हिन्द-क्षेत्र में उन जैसा सतर्क, प्रौढ़ चिन्तक और निष्पक्ष आलोचक नहीं हो पाया है। उनके द्वारा निर्धारित साहित्यिक मानदण्ड आज भी उसी रूप में स्वीकृत हैं, जिन रूपों में शुक्लजी ने उन्हें हमें सौंपा है।) इसे हम साहित्यिक अस्वस्थता ही कहेंगे; क्योंकि प्रौढ़ चिन्तन के अभाव में व्यक्तिगत एवं असंयमित अभिरुचि ही प्रगति पाती है।

(इन्हीं के साथ, हमें शुक्लजी की प्राप्त कृतियों के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना चाहिए। ऐसा नहीं है कि आचार्य शुक्ल ने समालोचना-सिद्धान्तों के लिए ही कोई विशेष पुस्तक लिखी हो, या परम्परा से चली आई साहित्यिक विचारधाराओं का विश्लेषण किया हो अथवा संस्कृत-साहित्य के सिद्धान्तों का भाषानुवाद या टीका लिखी हो; और साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि पाश्चात्य अध्ययनशीलता के प्रभाव में बह कर शुक्लजी ने पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र के सिद्धान्तों को, उसके सौन्दर्य-शास्त्र को, उनकी विचारधारा को ही आधुनिक हिन्दी-साहित्य की पृष्ठभूमि मान लिया हो। यह बतलाया जा चुका है कि (शुक्लजी का जो कुछ आलोचनात्मक साहित्य मिलता है, वह या तो सम्पादित ग्रन्थों की भूमिकाओं के रूप में हैं, या 'विचारवीथी', 'चिन्तामणि'

जैसे निबन्ध-संग्रहों में है और जिसकी पूर्णता 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' कृति में हुई है। तुलसी, जायसी और सूर पर लिखी गयी भूमिकाओं के अतिरिक्त 'शेष स्मृतियाँ' आधुनिक गद्य-साहित्य की समीक्षा है। 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' से पहले हिन्दी में इतिहास तथा परम्परागत चिह्नों के नाम पर केवल 'मिश्रबन्धु-विनोद' तथा 'शिर्वांसिंह-सरोज' ग्रंथ ही उपलब्ध थे जिनमें केवल संकलन की प्रवृत्ति अपनाई गई थी। शुक्लजी ने सम्पूर्ण इतिहास का काल-विभाजन करते हुए, तत्त्व-निरूपण को ही आधारभूमि मानते हुए, हिन्दी-साहित्य का एक व्यापक सर्वेक्षण किया है। पृष्ठभूमि की प्रवृत्तियों को आलोचनात्मक विवेचन के साथ प्रस्तुत करते हुए शुक्लजी ने इतिहास को एक नया रूप प्रदान कर दिया है, जिससे वह केवल संकलन मात्र न रह कर एक समीक्षा-ग्रन्थ बन गया है। स्फुट लेखों के रूप में, जिनका संकलन 'चिन्तामणि' में किया गया है; उन्होंने रस, अलंकार, छन्द, कल्पना आदि कविता के आवश्यक अङ्गों का विवेचन किया है। ये लेख पाश्चात्य तथा भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों के सन्तुलन पर खड़े हुए हैं। कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल के समन्वयवादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप इन स्वतंत्र लेखों में पाश्चात्य और भारतीय सिद्धान्तों पर आधारित साहित्य-सम्बन्धी विचार स्पष्ट हुए हैं।

हिन्दी-आलोचना की नई दिशा

पिछले अध्याय में हिन्दी के 'आलोचना साहित्य' का अर्द्धविकसित स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट हो चुका है। कुछ लोग इस कथन से सहमत न होंगे क्योंकि उनके विचारों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समय में हिन्दी-आलोचना का समुचित विकास हुआ है। मैं उसे अर्द्ध-विकसित इसलिए मानता हूँ कि उस समय आलोचना के क्षेत्र में एक प्रगति अवश्य हुई है, आचार्य शुक्ल ने उसका पथ-प्रदर्शन किया है पर वह विकासोन्मुखी होकर भी एकांगी रह गई है। उन्होंने जीवनगत मर्यादा की सीमाओं के अनुरूप ही साहित्य की मर्यादाएँ निश्चित की हैं। जीवन के प्रतिमात्र मर्यादावादी दृष्टिकोण से, समस्त साहित्य के प्रति न्याय नहीं किया जा सकता—ऐसा मेरा विश्वास है। यों तो आलोचना व्यक्तिगत रुचि-अरुचि, ज्ञान-विज्ञान, विकास और संयम का आश्रय लेती ही है। स्पष्ट है कि व्यक्तिगत रुचि-अरुचि पर आधारित जीवन के प्रति एकांगी दृष्टिकोण ही आलोचना का पूर्ण स्वरूप नहीं है। जीवन की सर्वाङ्गीण विवेचना एवं विश्लेषण, आलोचना का क्षेत्र है; क्योंकि जीवन ही साहित्य है। जीवन का सुख-दुख, जीवन का संघर्ष और जीवन की प्रगति का अमर स्वरूप ही अक्षरों में व्यक्त होता है। जो कवि या साहित्यकार जीवन की जितनी ही गहनतम अनुभूति, सत्यता के साथ, हमारे सामने प्रस्तुत करता है उसका साहित्य उतना ही अधिक हमारे निकट आता है तथा जन-जीवन के निकट आने की क्षमता ही साहित्य की उत्कृष्टता तथा सार्वभौमिकता का प्रमाण है।

शुक्लजी ने परम्परा का पालन आलोचना की शैली के लिए नहीं किया था, वरन् उनकी शैली में हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में विकसित सभी शैलियों का समन्वय हो गया था और उस समन्वित रूप को भी उनके हाथों एक रंग मिल गया था। उनकी यह विचारधारा कि 'आलोचक साहित्य की परख करता है; व्यक्ति की नहीं', उनकी आलोचना में स्पष्ट हो गई है और यही कारण है कि वे साहित्यकारों का वर्गीकरण नहीं करते। यह हो सकता है कि कृतियों की विशेषताओं के साथ ही व्यक्ति की विचारधारा का गौण रूप से कहीं संकेत हो गया हो, पर उसे प्रधानता नहीं मिल पायी है और यह भी तब हो गया है, जब आलोचक आचार्य का संयम, अन्धविश्वास और आश्चर्य में, खो गया है। अधिकांशतः, आलोचक शुक्ल ने वर्ण्य विषय और व्यक्तित्व की परख पर ही अधिक बल दिया है। उनकी आलोचना की एक और विशेषता है—'विश्लेषण और सिद्धान्तों का सहज समावेश'। अलंकार, रस, ध्वनि, गुण आदि के स्थिर सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए साहित्य के विश्लेषण की जो पद्धति उन्होंने प्रारम्भ की है, वही

आज समीक्षा की चरम सीमा बन गयी है—इसमें सन्देह नहीं है। उन्होंने समीक्षा को वैज्ञानिक बना दिया है फिर भी समालोचना का वह स्वरूप समस्त साहित्य का मूल्यांकन नहीं कर सकता। समाज, परिस्थिति और समय के अनुकूल जीवन के मूल्य बदला करते हैं। राजनीति बदलती है; साहित्य बदल जाता है, इसी के अनुसार हमारे जीवन के नये मूल्य निश्चित होते हैं।

भारतेन्दु और द्विवेदी-युग की अपेक्षा शुक्ल-युग को समालोचना के लिए अपेक्षाकृत अधिक संयत, सम्पन्न एवं पूर्ण युग कहा जाता है। इसका कारण—समय और विकासमयी परिस्थितियों—को ही बताया जा सकता है। दोनों युगों की समस्याएँ भिन्न होने से आलोचकों के दृष्टिकोण में अन्तर आ गया है। भारतेन्दु-युग में हिन्दी की मान्यता प्रमुख समस्या थी, द्विवेदी-युग में भाषा की प्रौढ़ता समस्या बन गयी और रामचन्द्र शुक्ल के युग में 'साहित्य का मूलरूप' चिन्तन का विषय बन गया। इसी के अनुकूल साहित्य का निर्माण हुआ

होता है, परम्पराएँ हाता ह, समस्याआ का उत्तर हाता ह, मयाआएँ हाता ह, सत्कृत होती है, और जीवन-दर्शन होता है। समालोचक इन्हीं की खोज करता है और इन्हीं के बल पर समाज का मूल्यांकन करता है। आचार्य शुक्ल तक तो इस सत्य का प्रतिपादन हुआ है पर उनके पश्चात् सचमुच साहित्य-समीक्षा की गति रुक-सी गई है। कहना अनुचित न होगा कि आगे आने वाला समालोचक-वर्ग व्यक्तिगत कमजोरियों का शिकार हो गया है जिसके परिणामस्वरूप आलोचना के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई है। लोग लकीर के फकीर बने, परम्परागत मान्यताओं, सिद्धान्तों, विश्लेषणों का अनुगमन करते चले हैं। हो सकता है कि आज के आलोचक को यह बात बुरी लगे कि वे इस क्षेत्र में कुछ भी नहीं दे पाये हैं, और जो कुछ है भी, सभी शुक्लजी अथवा विदेशी आलोचकों का जूठनमात्र है; पर यह कटु सत्य है। तर्कों से इसका परीक्षण आवश्यक नहीं है।

शुक्लजी का युग बीत गया। कुछ समय तक आलोचकों ने 'अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग' बजाया है। समीक्षा-क्षेत्र में पुनः साहित्यिक असंयम आ गया है। आरम्भिक आलोचना को भाँति, रुचि के अनुकूल, कवि या साहित्यिक-विशेष की, विशेषतः रचना-विशेष की, आलोचना की जाने लगी है। यह कहना कठिन नहीं रह गया कि आलोचकों ने अपना मार्ग छोड़ दिया है और उनके उद्देश्य में अन्तर आगया है। इसे और भी स्पष्ट करके कहा जा सकता है कि आलोचकों ने लेखकवर्ग में चरित्र-हीनता का प्रसार कर दिया है। यह समय आ गया है कि लेखक आलोचकों का मुँह ताकने लगे हैं, क्योंकि आलोचकवर्ग पथभ्रष्ट हो गया है। व्यक्तिगत कमजोरियों से पराजित

होकर यदि कोई आलोचक कृत्तियों का मूल्यांकन करता है, तो वह निश्चय ही अपनी राह से हट गया है। ऐसी ही परिस्थिति में नये लेखकों को आलोचकों का मुँह देखना पड़ता है। वस्तुतः इसे यों भी कहा जा सकता है कि आलोचक साहित्यिक उत्क्रोच की भावना से पराजित हो गया है। आगे-पीछे, हाँ में हाँ करने वाले, नये लेखकों की रचनाएँ, हो सकता है कि उनमें कुछ भी न हो, आलोचक की आलोच्य वस्तु बनने लगी हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि स्वतंत्रता एवं सच्चाई के साथ लिखने वाले साहित्यकारों के लिए मार्ग ही अवच्छिन्न हो गया है। सत्साहित्य की परख नहीं हो पा रही है। असंयत साहित्य का प्राधान्य हो गया है। स्पष्ट है कि इस प्रकार परिस्थितियों से पराजित एवं असंयत आलोचकों के माथे, अनेक सुरुचिपूर्ण साहित्य के लेखकों के साहित्यिक व्यक्तित्व की हत्या का कलंक लग गया है। हिन्दी के आलोचना-साहित्य के लिए यह एक निन्दनीय उल्लेख है।

थोड़े समय के लिए ही सही, हिन्दी-आलोचनाक्षेत्र में पुनः अन्धकार छा गया है। कुछ लोग तो इसे यह मानते हैं कि आज तक भी उस अन्धकार की अमिट छाया चल रही है। पर मैं इससे सहमत नहीं हूँ। अन्धकार छा जाने की बात तो सही है पर बहुत थोड़े समय के लिए ऐसी परिस्थिति आ गयी थी जिसका कारण आलोचक-वर्ग का असंयम था। हिन्दी-आलोचनाक्षेत्र में कुछ समय बाद ही तो प्रकाश आ गया, एक प्रगति स्पष्ट हो गई; पर इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि प्रकाश की किरणों हिन्दी के लिए विदेशी थीं। यहाँ यह संकेत कर देना अनुचित न होगा कि अन्य भारतीय भाषागत साहित्यधाराओं में आलोचना की प्रगति विकासशील थी। वहाँ आलोचना ने अनुसंधान का सहारा ले लिया था जिसकी पृष्ठभूमि में अध्ययन एवं अनुभव की पुकार थी। हिन्दी के लिए भी यही उचित मार्ग था, पर हिन्दी का आलोचक अध्ययन का सहारा ले, यह कैसे हो सकता था ? उसके विचारों में, अध्ययन एवं अनुसंधान से आलोचना का कोई सम्बन्ध नहीं है। रुचि-अरुचि के अनुकूल विचार-धारा बना लेना उसका जन्मसिद्ध अधिकार है और वह उसका उपभोग करने के लिए स्वतंत्र है। हिन्दी-आलोचना में आए हुए असंयम का यही एकमात्र कारण था। शुक्लजी के समय में भी मर्यादावादी, सौष्ठववादी, मनोविश्लेषणात्मक आदि कई एक आलोचना की पद्धतियाँ प्रचलित हो गयी थीं। आज जो इनका स्वरूप हमारी आलोचना में मिलता है, उनसे ये पद्धतियाँ पूर्णतः भिन्न सी रही हैं; जिसकी पृष्ठभूमि में आलोचक का एकांगी दृष्टिकोण एवं व्यक्तिगत रुचिमात्र दिखाई पड़ता है। तत्कालीन पद्धतियों को हम केवल विचारों का स्वरूपमात्र कहकर टाल नहीं दे सकते। यदि हम उनका सूक्ष्म विश्लेषण करें और आज तक के आलोचना-साहित्य को सामने रखकर उसका परीक्षण करें, तो हमें सामने एक ऐतिहासिक विकास की परम्परा भी मिल जाती है। साथ ही इतना तो स्वीकार किया जा सकता है कि ये विचारधाराएँ पूर्णतः विकसित नहीं

हो पाई हैं और उन्होंने सम्प्रदाय का मोह अपने में समेट लिया है जिसके फलस्वरूप वे अपूर्णता में ही पूर्णता का स्वप्न देखने लगे हैं। स्वप्न की प्रतिक्रिया ने ही उन्हें अवसृष्ट-गति कर दिया है।

आचार्य शुक्ल की समीक्षा-पद्धति पर अन्धानुगमन करने वाले आलोचकों की संख्या बहुत ही अधिक है। साहित्यादर्श और शैली को आधारभूत तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हुए उसे सिद्धान्त मात्र बना देना आलोचना की प्रगति को रोक देना है और शुक्लजी के बाद में, उनका पदानुगमन करने वालों ने यही किया है। आलोचक के लिए तीव्र परिवेक्षण शक्ति की आवश्यकता होती है जो अध्ययन, अनुभव तथा अनुशीलन से आती है। केवल सिद्धान्तों को सामने रखकर गणित की भाँति, संख्याओं की सही गणना करने मात्र से तो आलोचना हो नहीं सकती और न दार्शनिक विचारधाराओं के अनुकूल काल्पनिक संकल्प और विकल्पों से आलोचना प्रौढ़ बन सकती है। शुक्ल-पद्धति के आलोचकों ने शुक्ल-समीक्षासिद्धान्तों को केवल ऊपरी रूप में ही ग्रहण किया है, उसके लिए उनकी तह तक जाने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी है। साहित्यिक कृति को सामने रखकर उसे साहित्यिक विधाओं, अलंकारों, रसों, गुणों तथा भेदोपभेदों से तुलनामात्र करना इन आलोचकों ने सीखा है। इनमें, न कहीं तर्क को कोई स्थान है और न कहीं इनकी मौलिक सूझ को। कुछ इने-गिने शब्दों के उलट-फेर मात्र को यदि आलोचना कह दिया जाय तो साहित्य के प्रांत उचित न्याय नहीं होगा और यही बात इन आलोचकों के प्रति भी सत्य उतरती है। यहाँ तक कहा जा सकता है कि आनेवाले आलोचकों का शब्द-भण्डार भी शुक्लजी का ही शब्द-भण्डार है, जिसका वे मनचाहा, जहाँ-तहाँ प्रयोग कर लेते हैं।

शुक्लजी के समय में ही आलोचना की वैज्ञानिक पदावली भी बन चुकी थी। यह एक और कारण था कि अनुयायी आलोचकों को अपनी ओर से कुछ करने का प्रयास करना ही नहीं था। विज्ञान की भाँति, निश्चित मात्रा में रस-पदार्थ मिला भर देने से, कोई-न-कोई मिक्सचर तैयार हो ही जायगा। बस यही कार्य-मात्र इन आलोचकों का उद्देश्य बन गया।

शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है 'समन्वय'। जहाँ वे शास्त्रीय मानदण्डों को स्वीकार करते हैं; वहीं वे उसे घटाते-बढ़ाते हुए नवीन अर्थ का द्योतक भी मान लेते हैं और साथ ही भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों के मिले-जुले रूप को आधुनिक साहित्य-परीक्षण के अनुकूल स्वीकार करते हैं। उन्हीं के साथ कार्य करने वाले आलोचक डॉ० श्यामसुन्दरदास में भारतीयता और पाश्चात्य सिद्धान्तों का सहज सम्मिश्रण नहीं हो पाया है। जैसा पिछले अध्याय में संकेत किया गया है कि शुक्ल जी ने कोई सिद्धान्त-ग्रन्थ नहीं लिखा है, पर कहीं-कहीं निबन्धों

में अपनी धारणा को स्पष्ट कर दिया है। कविता, उपन्यास, कहानी आदि की पश्चिम से आई हुई व्याख्याओं के साथ रस, अलंकार को मिलाकर उसे एक नया स्वरूप देने का कार्य भी शुक्ल जी ने किया है। अनुगामी आलोचक-सम्प्रदाय को मूलतः इन तत्त्वों का कोई ज्ञान न हो सकने के कारण बाद में आने वाली आलोचना का स्वरूप बहुत-कुछ बिगड़ गया है।

हिन्दी-आलोचना की संयत पृष्ठभूमि शुक्ल जी ने तैयार कर दी है, इसे निस्सन्देह स्वीकार किया जा सकता है। शुक्ल जी के बाद, हिन्दी-आलोचना का समस्त साहित्य, कुछ विशृङ्खल-सा दिखाई देने लगा है। काशी, आलोचना का केन्द्र बना रहा पर साथ ही सम्पूर्ण हिन्दी-क्षेत्र में वर्ग बन गये। प्रयाग में 'धीरेन्द्र स्कूल' स्थापित हो गया, कानपुर तथा आगरा क्षेत्र में अयोध्यानाथ शर्मा, सद्गुरुशरण अवस्थी आदि ने एक अपना वर्ग बनाया तथा बिहार और नागपुर के क्षेत्र में भी एक आलोचनात्मक प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। धीरेन्द्र-स्कूल अपने में पूर्ण होकर भी, एक निश्चित ढर्रे पर चल रहा है। सभी वर्ग के अनुयायी आलोचकों ने साहित्य का खाका मात्र प्रस्तुत किया है; विश्लेषण नहीं। केवल डॉ० रामकुमार वर्मा पर इसका प्रभाव नहीं दिखायी देता। डॉ० लक्ष्मीसागर वाण्येय, डॉ० श्रीकृष्णलाल, डॉ० भोलानाथ आदि सभी की 'साहित्य-इतिहास' सम्बन्धी कृतियाँ एक निश्चित ढंग एवं परम्परा की अनुगामिनी हैं, संकलन जिसका ध्येय है; परीक्षण वहाँ उपेक्षित हो गया है। वस्तुतः ये कृतियाँ डिग्रियों के लिए लिखे गये प्रबन्ध-मात्र हैं—स्वच्छन्द एवं स्वतन्त्र आलोचना इन्हें नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि अध्ययन के लिए प्रस्तुत प्रणाली उचित एवं उपयुक्त हो, पर आलोचना प्रस्तुत करने के लिए यह ढंग अत्यन्त ही शिथिल और अशक्त है। इस वर्ग के केवल एकमात्र आलोचक डॉ० दीनदयाल गुप्त हैं, जो इस निश्चित परम्परा के शिकार नहीं हो पाए हैं। काशी के रामचन्द्र शुक्ल-वर्ग के अवशिष्ट कुछ शेष हैं जिनमें विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नन्ददुलारे बाजपेयी, जगन्नाथप्रसाद शर्मा, रामबहोरी शुक्ल प्रभृति विद्वान् कार्य कर रहे हैं। 'शान्तिनिकेतन' में स्वतन्त्र रूप में कार्य करने वाले आलोचक श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी भी अब काशी-वर्ग में ही आ गये हैं। शुक्ल जी का प्रभाव तो उन पर है ही, साथ ही बँगला-साहित्य की जाग्रत प्रवृत्तियाँ भी उनके साथ आयी हैं। इससे उनका रूप कुछ अलग-सा प्रतीत होता है। इस वर्ग के अनुकूल ही दिल्ली में डॉ० नगेन्द्र नगाइच भी कार्य कर रहे हैं। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र की यह आज अकेली निधि है, जिसकी पृष्ठभूमि स्वतन्त्र वातावरण एवं विचारों में बनी है। निकट अतीत की कुछ प्रवृत्तियों को देखते हुए अवश्य ही आलोचकों को डर लगने लगा है कि डॉ० नगेन्द्र की संयत एवं स्वतन्त्र विचारधारा वर्गात्मक एवं रूढ़ सैद्धान्तिकता से ढँक-सी रही है। आगरा, कानपुर क्षेत्र में अब केवल डॉ० सत्येन्द्र ही दिखायी पड़ते हैं जिन पर शुक्ल जी की मूलभूत प्रवृत्तियों

का स्पष्ट प्रभाव है। बिहार-नागपुर क्षेत्र में श्री नलिनविलोचन शर्मा, विनयमोहन शर्मा तथा लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' की मूलभूत प्रेरक शक्तियाँ शुद्ध जी की ही देन हैं। यद्यपि परिस्थिति-परिवर्तन एवं अध्ययन-अनुशीलन के फलस्वरूप उनके स्वरूप में विकृति आ गयी है।

नवोदित आलोचकों में विजयशंकर मल्ल, नामवरसिंह, डॉ० धर्मवीर भारतीय, डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव, डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी, प्रकाशचन्द्र गुप्त, डॉ० रामविलास शर्मा, श्री यशदेव, डॉ० शम्भुनाथसिंह रसिक, डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, डॉ० देवराज उपाध्याय तथा शिवदानसिंह चौहान आदि आलोचना-क्षेत्र के सक्रिय सहयोगी हैं। इन आलोचकों में डॉ० धर्मवीर भारतीय, डॉ० देवराज उपाध्याय और नामवरसिंह के विषय में कहा जा सकता है कि इनके विचार पूर्णतः पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन पर आधारित हैं। हाँ, इतना है कि अध्ययन और अनुशीलन ने उन्हें अपना बना दिया है। अन्य आलोचकों की विचारधाराएँ अपने में ही उलझी हुई हैं। भारतीय समीक्षा-पद्धति तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों की खिचड़ी पूर्णतः पक नहीं पाई है। दोनों का समन्वय किसी नई दिशा का निर्माण नहीं कर सका है। विजयशंकर मल्ल की प्रतिभा न जाने क्यों धूमिल-सी पड़ रही है। प्रकाशचन्द्र गुप्त तो पूर्णतः दूसरों के विचारों को, हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा का व्यक्तित्व अवश्यमेव अलग हो पाया है जिसके पीछे पाश्चात्य शास्त्र का अध्ययन, भारतीय वातावरण के सन्तुलन के साथ मुखर हो रहा है। उनके विषय में, सबसे विशेष बात यह है कि वे स्पष्ट कह सकते हैं, उनकी शब्दावली अंगार बरसा सकती है पर साथ ही आज के युग के असंयम का धूँआँ आलोचना-शक्ति के उस प्रकाशपुंज को धूमिल कर रहा है।

आलोचना-क्षेत्र में एक हवा सी चल उठी है, जिसे प्रारम्भिक हिन्दी-समीक्षा का पुनरुत्थान कहा जा सकता है और वह है पुस्तक-परिचय के स्थान पर साहित्यकार-परिचय। समीक्षा का यह ढंग केवल विद्यार्थियों के योग्य ही पुस्तकें दे सका है जिसमें मात्र परीक्षोपयोगी सामग्री एकत्र कर दी गई है। डॉ० रामरतन भटनागर, प्रेमनारायण टण्डन, विश्वम्भर मानव आदि ने इस परम्परा का प्रारम्भ किया है और अब यह बीमारी छूट की बीमारी की तरह आलोचकों में फैल गयी है। इस कार्य से इतना लाभ तो अवश्य हुआ है कि बिखरी हुई साहित्यिक सामग्री एकत्र होकर साहित्य-क्षेत्र में आ गयी है पर आलोचना के क्षेत्र में उसका कुछ अपना महत्त्व हो, यह संदिग्ध है। कुछ आलोचकों ने, आलोचना को शास्त्रीय रूप देने की इच्छा मात्र से 'साहित्य-विवेचन' को अपना क्षेत्र बनाया है। इनमें अध्ययन तो मुखर हो उठा है पर अनुभव की तीव्रता नहीं आ पायी है। डॉ० एस० पी० खत्री का प्रयास इस ओर स्तुत्य है।

आलोचना में एक और प्रकार का साहित्य प्रचुर मात्रा में आया है जिसे हम विश्वविद्यालयों की डिग्री के लिए स्वीकृत या अस्वीकृत प्रबन्ध कहते हैं। हिन्दी-क्षेत्र के प्रत्येक विश्वविद्यालय ने इस कार्य में सहयोग दिया है; पर दुख के साथ लिखना पड़ता है कि इन प्रबन्धों में स्वतन्त्र विचारधारा का विकास नहीं हो पाया है। या तो इन प्रबन्धों में ऐतिहासिक सामग्री एवं सत्यों का संग्रह किया गया है या व्यक्तिगत रुचि का प्रसार हुआ है। इनके माध्यम से स्वतन्त्र आलोचना का स्वरूप विकसित नहीं हो पाया है।

अवधि में बाँध कर साहित्यिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण करने की विचारधारा भी इन दिनों दिखायी देती है। विशेषतः यह प्रवृत्ति 'धीरेन्द्र-स्कूल' के अनुयायियों की है। इनके अतिरिक्त श्री शिवदानसिंह चौहान ने भी इस परम्परा में कुछ सहयोग दिया है। इन प्रवृत्तियों एवं साहित्य में ऐतिहासिक विकासमात्र मिलता है, स्वतंत्र आलोचना का विकास नहीं हो पाया है। हिन्दी-साहित्य को आलोचना के जिस स्वरूप की आवश्यकता है, शुक्ल जी के पश्चात् किसी ने भी उस ओर कदम नहीं बढ़ाया है। यद्यपि प्रयास बहुतों ने किया है पर आलोचना की घिसी-पिटी शब्दावली से कोई भी आगे नहीं आ सका है।

एक और विकासमयी प्रवृत्ति इन दिनों दिखायी पड़ती है : 'साहित्यिकों के ऐतिहासिक एवं साहित्यिक अध्ययन की प्रवृत्ति'। यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ है फलतः स्वस्थ आलोचना का विकास भी हुआ है। अभी तक एक विचारधारा चल पड़ी थी कि ऐतिहासिक परम्पराओं की कड़ी प्रस्तुत कर देना ही आलोचना है, चाहे साहित्यिक पक्ष का उचित विवेचन हो या न हो। पिछले दिनों हिन्दी के आलोचकों का ध्यान उस ओर गया है, जो उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत करता है पर इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि आलोचना के नाम पर प्रभृति आलोचकों द्वारा साम्प्रदायिकता का प्रचार किया जा रहा है। इस प्रकार की आलोचना का प्रमुख ध्येय; किसी वर्ग या दल की भावनाओं के अनुकूल, समाज का चित्रण प्रस्तुत करना है। यह बहुत स्वस्थ दृष्टि-कोण नहीं कहा जा सकता क्योंकि साहित्य का समुचित विकास मानसिक स्वतन्त्रता के साथ होता है और यहाँ साहित्यकार पर राजनीतिक दलबन्दी का अंकुश लगाया गया है। इसे स्पष्ट कर देने में तनिक भी दुख नहीं है कि आलोचकों का यह वर्ग, सतर्क एवं सजग होते हुए भी, सच्चे एवं निष्पक्ष आलोचक का उत्तरदायित्व नहीं निभा पा रहा है।

हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र में प्राप्त, प्रमुख विचारधाराओं के आधार पर ही, ऊपर हिन्दी-आलोचना के वर्तमान स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न विचार-धाराओं के साथ ही आलोचना क्षेत्र में अनेक शैलियों का भी प्रादुर्भाव हुआ है। यहाँ उन शैलियों की ओर संकेत कर देना विषयान्तर नहीं हो सकेगा, इसी कारण हम वर्तमान शैलियों की विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं। साहित्य के किसी अंश का वर्गीकरण यों

तो आसान नहीं मानना चाहिए क्योंकि वह तो प्रात साहित्य के गहन अध्ययन एवं अनुशीलन के पश्चात् ही किया जा सकता है पर उस साहित्य-विशेष में विकसित विचार-धारा एवं समाज के चित्रण को आधार मानते हुए ही किसी विशेष युग के साहित्य की परख की जा सकती है और उसे प्रवृत्तियों के वर्ग में विभाजित किया जा सकता है। हिन्दी-आलोचना के लिए भी इसी सत्य का पालन किया जा सकेगा। पिछले अध्याय में इसका उल्लेख किया जा चुका है कि आलोचना का संयत स्वरूप आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हाथों में ही निखरा है और वे इसी सत्य के आधार पर हिन्दी-आलोचना के पिता माने जाते हैं। उन्होंने जिस प्रकार की आलोचना-पद्धति अपनायी, उसका विवेचन हम कर चुके हैं। उसे हम 'शुक्ल समीक्षा-पद्धति' के नाम से जानते हैं; जिसका एक अंश शास्त्रीयता के अंक में पल रहा है और दूसरा आधुनिक मनोविज्ञान का दामन संभाल रहा है। दोनों का सहज समन्वय ही शुक्ल-समीक्षा-पद्धति की विशेषता है। यद्यपि परवर्ती आलोचकों के अध्ययन और सूक्ष्म परिवेक्षण की कमी ने उन्हें शुक्लजी के दृष्टिकोण तक पहुँचने नहीं दिया है फिर भी आज के आलोचकों के लिए शास्त्रीय मार्ग संयत एवं प्रशस्त हो गया है। शुक्ल समीक्षा-पद्धति की प्रमुख विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए कहा जा सकता है कि इसमें शास्त्रीयता के साथ नैतिकता, सैद्धान्तिकता, मर्यादाएँ और उद्देश्यों का स्पष्टीकरण आदि प्रमुख तत्त्व हैं। यद्यपि इन मर्यादाओं और नैतिक मानदण्डों को स्पष्ट करने में साहित्यिक व्यक्तित्व पर अवश्यमेव कुछ धक्का लगा है पर शुक्लजी जैसे आलोचकों को चरित्रहीनता एवं अनैतिकता की बात मान्य नहीं हो सकती थी। यह सोमा शुक्लजी ने निर्धारित की थी और शुक्लजी तक ही, सच्चे माने में, यह सीमित हो गयी है। अनुगामी आलोचक-वर्ग केवल आलोचना का ऊपरी स्वरूप पहचान पाया है। ठीक उसी प्रकार, शुक्लजी को सैद्धान्तिक मानदण्डों की उपेक्षा भी असह्य थी पर मौलिकता का स्वागत उन्होंने खुले दिल से किया है। उनके विचारों में रूढ़ सिद्धान्तों को मौलिक स्वरूप देकर उन्हें नया बनाया जा सकता है और उस नवसिद्धान्त के पालन पर आचार्य शुक्ल बहुत जोर देते थे।

आचार्य शुक्ल की आलोचना-पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कृति-विशेष की विशेषताओं के आधार पर कवियों के व्यक्तित्व एवं व्यक्तिगत विचार-धाराओं पर ध्यान दिया गया है। यह आचार्य शुक्ल की सबसे बड़ी देन है।

साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे साहित्य में भारतीय मूल प्रवृत्ति प्रतिक्रिया को सर्वदा आश्रय मिला है। शुक्लजी के समालोचना के स्पष्ट, किन्तु कड़े, सिद्धान्तों की भी प्रतिक्रिया हुई और हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में एक ऐसी पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें कवि को व्यक्तिगत विचारधारा, अभिरुचि आदि

को प्राथमिकता दी गई है और कृति का विवेचन दूसरे स्थान पर आ गया है। यहाँ आलोचक का मुख्य ध्येय, उन मूल स्रोतों का पता लगाना है, जिनके प्रभाव में प्रस्तुत कृति का निर्माण हुआ है पर इसे भी हम किसी प्रकार, सैद्धान्तिक एवं शास्त्रीय आलोचना-पद्धति से अलग नहीं कर पाते।

आलोचना की तुलनात्मक एवं निर्णयात्मक प्रणाली में आलोचक अन्य समकालीन कृतियों के साथ किसी कृति-विशेष का परीक्षण करता है। हिन्दी-आलोचना की इस विशेष पद्धति का प्रारम्भ भी आचार्य शुक्ल द्वारा हुआ है। उनकी समीक्षा कहीं निर्णयात्मक है और कहीं तुलनात्मक; पर उनका सदैव यह प्रयास रहा है कि दोनों शैलियों का सहज-सम्भाव्य समन्वय प्रस्तुत किया जा सके। शुक्लजी की निष्पक्षता और निर्भीकता उन्हें अपना निर्णय देने में सदैव सहायक रही है। जहाँ कहीं उन्हें, किसी बात का संकेत करना पड़ा है, जिससे किसी साहित्यकार की स्थिति को घट्ठा लग सकना सम्भव हो, वहाँ भी उन्हें तनिक हिचक नहीं हुई है और वे अपना संकेत कर बैठे हैं। इस पद्धति के अन्य आलोचकों ने भी इसको अपनाने का प्रयास किया है। मूलतः ये प्रयास अनुकरणमात्र हैं; अपने व्यक्तिगत बल पर आधारित नहीं हैं क्योंकि प्राप्त आलोचना-साहित्य में उनकी निर्भीकता उतनी नहीं हो पाई है जितनी कि अपेक्षित थी। उसे हम शुक्लजी की छाया कह सकते हैं अथवा उसे 'संकेत' कहेंगे। पर हाँ, इतना तो अवश्य है कि जिन कवियों, लेखकों पर शुक्लजी ने अपना निर्णय दे दिया है, उनके विषय में तो इन अनुयायी आलोचकों को कुछ न कुछ निर्णयात्मक ढंग में कहना ही पड़ा है। उन स्थलों को छोड़कर अन्य आलोचकों का मन्तव्य केवल संकेत का आश्रय भर बन पाया है। इस निर्णयात्मक आलोचना-पद्धति का परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी-आलोचना में दो वर्ग बन गये हैं। एक वर्ग ने विचारों और निर्णयों में पूर्णतः शुक्ल-विचारधारा का अन्धानुगमन स्वीकार कर लिया है और दूसरे वर्ग ने, जो उन विचारों से अलग है, अपना नया दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। दूसरे वर्ग का प्रतिनिधित्व बाबू श्यामसुन्दरदास ने किया है। इस विचार-विभेद से आलोचना के विकास में सहायता मिली है; उसका शास्त्रीय स्वरूप स्पष्ट हुआ है और विचारों में गम्भीरता समा गयी है। साथ ही वैयक्तिक विचारधारा को भी आश्रय मिला है। शुक्लजी ने अपनी आलोचना में आलोचकों के लिए लक्ष्मण की रेखा जैसी सीमा बना दी थी पर इसमें सन्देह नहीं है कि साहित्य न तो कभी सीमाओं में रहा है, न कभी सीमा की उसे चिन्ता हुई है। निर्णयात्मक आलोचना के सभी अनुगामी आलोचकों ने समयानुकूल भारतीय तथा पाश्चात्य समालोचना-सिद्धान्तों का मिश्रण स्वीकार किया है, जिसके आधार पर यह कहना अत्यन्त सरल हो गया है कि आलोचना का प्राप्त स्वरूप न तो मूलतः भारतीय पद्धति की देन है, न पाश्चात्य विश्लेषण-प्रणाली की।

निर्णयात्मक एवं तुलनात्मक पद्धति के साथ ही जिस शैली का विकास डॉ० श्यामसुन्दर दास के हाथों हुआ, उसे प्रयोगात्मक समीक्षा कहते हैं। यह सही है कि बाबूजी ने किसी शैली का साहित्य समृद्ध नहीं किया है पर सिद्धान्तों को स्पष्ट करते हुए, शुक्ल-पद्धति को प्रौढ़ आधार प्रस्तुत किया है। आगे की हिन्दी आलोचना के लिए दोनों ही शैलियों ने आपस में गठबन्धन कर लिया है। बाबू श्यामसुन्दर दास की आलोचना-पद्धति का अपना स्वतंत्र रूप न होकर भी उनके व्यक्तित्व की छाप अवश्य अलग है। उन्होंने शुक्ल-पद्धति पर खड़े हुए आलोचना के शिशु को प्रौढ़ता प्रदान की है, नियम दिया है, जीवन-दर्शन प्रदान किया है और साथ ही शास्त्रीयता का सम्बल दिया है। बाबू जी की पद्धति की सबसे प्रमुख विशेषता, उनकी खोज को प्रवृत्ति है, उनका ऐतिहासिक चिन्तन है। प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का प्रश्न उनके सामने प्रारम्भ से लेकर अन्त तक रहा है। कवियों एवं साहित्यकारों की प्रामाणिक जीवनी प्रस्तुत करना ही उनका प्रमुख उद्देश्य रहा है। इसका परिणाम यह हो गया है कि साहित्यिक परीक्षण का स्थान ऐतिहासिक खोज ने ले लिया है। इसकी किसी प्रकार उपेक्षा नहीं की जा सकती कि किसी साहित्य के सर्वांगीण परीक्षण के लिए साहित्यकार का परिचय, उसकी परिस्थितियाँ तथा समाज का ज्ञान अत्यावश्यक है क्योंकि इन्हीं की सामूहिक उपलब्धि साहित्य में उतरती है। हाँ, शुक्ल जी से इनकी समीक्षा-पद्धति में जो प्रमुख अन्तर है वह है गूढ़-चिन्तन का। इनकी आलोचना प्रमुखतः ऐतिहासिक खोज है, जहाँ शुक्ल जी की पृष्ठभूमि साहित्यिक चिन्तन पर आधारित है। दोनों समीक्षा-पद्धतियों का अपना अलग-अलग अस्तित्व है, विकास की प्रगति में अपना स्थान है। एक ने आलोचना को जीवन दिया है और दूसरी ने उसका भरण-पोषण किया है।

कुछ आलोचकों ने बाबू श्यामसुन्दर दास की इस सन्तुलित एवं विकास-क्रम पर आधारित समीक्षा-पद्धति को समन्वयवादी आलोचना-प्रणाली कहा है। इसके लिए उनका यह तर्क है कि इस शैलीविशेष में शुक्ल जी द्वारा मान्य आलोचना के सिद्धान्त हैं, मनोविश्लेषण के साथ ऐतिहासिकता है और साथ ही साहित्यिक परीक्षण का निखरा हुआ शास्त्रीय आधार भी है। यहाँ कवि और वस्तु दोनों का अलग-अलग अस्तित्व होकर भी अलग-अलग नहीं रह पाया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इस शैली में भारतेन्दु से लेकर शुक्ल जी तक की विचारधारा और समीक्षा का समाहार प्रस्तुत किया गया है।

छायावाद के प्रसार और जीवन-दर्शन के अनुकूल ही स्वच्छता और सौष्ठव पर आधारित आलोचना के नये मानदण्ड भी निश्चित हुए हैं। प्रत्येक युग के साथ अपनी मान्यताएँ होती हैं, अपनी विचारधारा होती है और अपना जीवन-दर्शन होता

है। सार्वकालिक सिद्धान्तों के साथ ही ओचित्य में विभिन्नता, युगविशेष को प्रवृत्ति की देन होती है। यह स्वाभाविक भी है कि साहित्य की नयी प्रेरणा के साथ, उसके समर्थकों और विरोधियों का भी जन्म होता है। समर्थकों के लिए उससे बढ़कर कोई और अन्य प्रेरणा-स्रोत न तो मिले साहित्य में दिखाई देता है और न आने वाले युग में उससे परे कोई वस्तु स्वीकार की जा सकती है। समर्थक समीक्षक की धारणा बन जाती है कि उसके मानदण्ड सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सर्वमान्य हैं। साथ ही वह यह भूल जाता है कि यह मान्यता सभी युग में आती है। साहित्य युग का प्रतिबिम्ब होता है। जिस प्रकार का जीवन और उसके मानदण्ड समय-विशेष में होंगे; उसी प्रकार की विचारधारा और दर्शन साहित्यिक मूल्यांकन के लिए भी स्वीकार किया जायगा। छायावाद का विकास जिस परिस्थिति में हुआ है, उसके विशद विवेचन में न जाकर भी यह कहा जा सकता है कि छायावाद की नयी अनुभूति थी, नया जीवन-दर्शन था, नयी मर्यादाएँ थीं और असीमित नयी आशाएँ थीं। पृष्ठभूमि में अध्ययन, अनुशीलन और अनुभव का समन्वयवादी विश्वास था। परम्पराओं की प्रतिक्रिया थी, नवीनता की चाह थी। इस कारण छायावाद को अपने बचपन में ही शुक्ल और श्यामसुन्दर दास जैसे महारथियों के आघात सहने पड़े हैं। आघातों को सहते हुए आलोचक और साहित्यकार दोनों आगे बढ़ रहे थे। शुक्ल की आलोचना का क्षेत्र मूलतः रीतिकाल तक सीमित हो गया था। इतना ही नहीं बरन् तुलसी, सूर आदि को छोड़कर अन्य कविता तो उन्हें शब्दाडम्बर जैसी मालूम होती रही है। इसे कहने में तनिक भी हिचक न होती चाहिए कि नवीनता का स्वागत न कर सकने के कारण शुक्ल जी तथा उनका अनुयायी-वर्ग छायावादी साहित्य का उचित मूल्यांकन नहीं कर सका है। इससे यह पूर्ण स्पष्ट है कि हिन्दी-आलोचना की प्रौढ़ावस्था तो शुक्ल जी के साहित्य में अवश्य स्पष्ट हुई है। पर वह अपूर्ण है क्योंकि उसमें छायावादी मानदण्डों का उचित समावेश नहीं हो सका है। छायावादी आलोचना की पृष्ठभूमि नवीन चेतना से पूर्ण तथा नवीन साहित्यिक धारणाओं पर बनी हुई है। साहित्य-रचना तथा उसके उचित मूल्यांकन के लिए साहित्य-क्षेत्र में दो नई विधाएँ स्पष्ट हुईं। साहित्य-क्षेत्र की काव्य-परम्परा को, जिसे शुक्ल जी जैसे आलोचकों ने उपेक्षित एवं प्रतिक्रियात्मक साहित्य कहा है, 'छायावाद' की सन्तुलित भावभूमि मिली है और उसके मूल्यांकन के लिए, जो नवीन विचारधाराएँ एवं चेतना मिली है, उसे हम सौष्ठववादी आलोचना-पद्धति कहते हैं। इस पद्धति के विषय में भी यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि नवीनता की कसक एवं छटपटाहट से इसकी अपनी एक सीमा बन गयी है।

शुक्लजी तथा बाबू श्यामसुन्दरदास जैसे शास्त्रीय और प्रयोगवादी आलोचकों की पहुँच को, अपूर्ण घोषित करते हुए, छायावादी कवियों ने आलोचना का कार्य भी

अपने हाथों में ले लिया है। वस्तुतः छायावादी कवि, सृजन और समीक्षा, दोनों का कार्य करता चल रहा है। समीक्षा का क्षेत्र उसे बाध्य होकर लेना पड़ा था क्योंकि उन्हें समसामयिक आलोचकों से नवीनता के प्रति सम्भावित उपेक्षा का डर था। इस क्षेत्र में भी उन्होंने केवल सिद्धान्त एवं दर्शन को ही अथवा ध्येय बनाया है न कि साहित्यानुशीलन को। इन कवियों को सबसे पहले यह अनिवार्य प्रतीत हुआ कि छायावाद का स्वरूप और उसकी मूलभूत प्रेरणाओं से परम्परावादी आलोचकों को परिचित कराएँ। “छायावाद वस्तुतः क्या है” यह सबसे पहला प्रश्न था। इस प्रश्न को लेकर साहित्य-क्षेत्र में विविध विवाद खड़े हो गए हैं। आलोचकप्रवर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इस क्षेत्र में अन्यथा प्रयास लोगों को इस साहित्यिक धारा के प्रति उदासीन एवं एकांगी बनाता रहा। उनके विचारों में छायावाद एक प्रयोग था जो योरोप और बंगाल से जूठन के रूप में हिन्दी ने स्वीकार किया था। वे मानते रहे हैं कि असाध्य एवं अप्रकट प्रेम का असंयत एवं साहित्यिक प्रकाशन ही छायावाद का ध्येय है जिसके लिए कवियों ने प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग स्वीकार किया है। अमूर्त उपमानों के प्रतीकों के माध्यम से, मानव की अपूर्ण लालसा एवं वासना को आश्रय देना ही छायावादी कवियों को मान्य रहा है। मूलतः वे उस काव्य-चेतना को एकमात्र शैलीविशेष का प्रयोग मानते थे, पर यह एकांगी दृष्टिकोण था जिससे छायावादी रचनाओं के प्रति पूर्ण न्याय होना सम्भव न था। वस्तुतः शुक्लजी ने, प्राप्त रचनाओं के आधार पर छायावाद का केवल विश्लेषण किया है और जहाँ उन्हें अपनत्व के दर्शन नहीं हुए हैं; नवीनता का रूप स्पष्ट किया गया है, वहीं वे संकुचित विचारों के शिकार हो गए हैं। इसे कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता कि शुक्लजी छायावादी भावभूमि से अपरिचित थे, नवीनता के कट्टर विरोधी थे। साहित्य-चेतना, चाहे जिस युग की अथवा देश की हो, वह किसी बन्धन में नहीं रह सकती और उसमें उत्थान-पतन के सहज सम्भाव्य स्वरूप सर्वदा आते रहेंगे। वैदिक-युग से लेकर आजतक के समाज में, जितनी भी विचार-धाराएँ हमें मिलती हैं, उन सभी को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—स्थूलता और मार्मिकता की प्रगतियाँ। कभी हम स्थूलता की मान्यता के लिए स्वर उठाते देखे जाते हैं और कभी हम मार्मिकता की पुकार उठाते हैं। इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों की होड़ में साहित्य और समाज का विकास होता है। यह सृष्टि का आदि नियम है। इसी पर हमारी समूची प्रगति अवलम्बित है। यही मानव-मनोविज्ञान का समूचा इतिहास है। छायावाद भी इसी की एक कड़ी है। रीतियुग के साहित्य से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि हम स्थूलता के उपासक थे। उसकी प्रतिक्रिया अनिवार्य थी। स्वभावतः हम मार्मिकता की ओर झुकते। हमें केवल अभिव्यंजक शैली की आवश्यकता थी जिसके माध्यम से हम अपनी अन्तर्भावनाओं को सामान्य रूप दे सकते थे।

छायावाद ने इसकी पूर्ति कल्पना और संवेदना के सहज योग से की है।

आचार्य शुक्ल की विचारधारा से छायावादी कवियों का मेल न बैठ सका— इसका संकेत पहले किया जा चुका है। प्रसाद जैसे कवि को भी अपनी लेखनी अपने साहित्य की रक्षा के लिए उठानी पड़ गयी है। उन्हें आलोचक के रूप में सामने आना पड़ा है। यों तो प्रसाद जी कभी भी नहीं चाहते थे कि वे इस प्रकार के किसी भ्रमेले में पड़ें, पर आचार्य शुक्ल द्वारा दी गई छायावाद की भ्रमात्मक मान्यताओं को स्पष्ट करना भी अनिवार्य था। प्रसाद जी छाया का सीधा सम्बन्ध मोती की कान्ति से मानते हैं जिसे 'छाया' रूप में ही स्वीकार किया गया है। प्रसाद जी के छायावाद सम्बन्धी इन विचारों में मौलिकता होते हुए भी मानसिक व्यायाम मालूम होता है। अपने तर्कों से प्रसाद जी ने फैले हुए भ्रम को अधिक से अधिक मिटा सकने का प्रयास किया है और 'आत्माभिव्यंजन' को ही छायावादी काव्य का प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया है। नवीन दृष्टिकोण, नवीन जीवन-दर्शन और नवीन संवेदना से परिपूर्ण कविता के लिए परम्परागत पदयोजना योग्य सिद्ध नहीं हुई और प्रसाद जी के विचारों में, उसके लिए नवीन शैली तथा वाक्य-विन्यास की आवश्यकता प्रतीत हुई। प्रसाद जी के इस विश्लेषण से आलोचकों में दो वर्ग हो गये। एक वर्ग तो शुक्ल जी का अन्धानुगमन कर रहा था और नैतिकता, परम्परा, शास्त्रीयता आदि के इने-गिने शब्दों की पुकार मचा रहा था और दूसरा वर्ग जो छायावादी साहित्य की मार्मिकता से प्रभावित था। इस वर्ग-संघर्ष से वस्तुतः छायावाद की गति में बल आता गया है।

प्रसाद की काव्य-परम्परा और उनके स्पष्टीकरण ने आने वाले साहित्यकारों को भी इस क्षेत्र में उतरने के लिए बाध्य कर दिया। साहित्य-सृजन के साथ ही उनका एक प्रकार से यह भी उत्तरदायित्व हो गया कि साहित्य, विशेषतः छायावादी परम्परा के विषय में भी अपने विचार प्रकट करें। निराला, पन्त, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि सभी ने अपनी-अपनी लेखनी आलोचक के रूप में उठायी है। महादेवी वर्मा के अनुसार 'छायावाद तत्त्वतः प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीत है।' छायावाद में कवि सौन्दर्य का रसास्वादन मात्र करता है। रहस्यवाद में आत्मसमर्पण की भावना प्रधान हो जाती है। छायावादी परम्परा की ओर संकेत करते हुए उन्होंने स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि यह साहित्यिक चेतना हिन्दी के लिए नयी चेतना इसलिए प्रतीत होती है कि इसका विकास परम्परा से चली आयी, घिसी-पिटी रीतियुगीन कला-साहित्य की कोमल क्रोड की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है, यों कोई नयी चेतना नहीं है। संस्कृत का उपनिषद्-साहित्य हमारी इस चेतना की भावभूमि है जहाँ से भावनाएँ, दर्शन, प्रतीकात्मकता, अभिव्यंजना आदि सभी का उद्गम और प्रसार माना जाता है। अपने

एक निबन्ध में, नवीन चेतना का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि मनुष्य से प्रकृति का तादात्म्य छायावाद है और ब्रह्म से रहस्यवाद।

डॉ० रामकुमार वर्मा जीवन की यथार्थता की सहज अनुभूति और उसके सम्बेदनात्मक साहित्यिक स्वरूप को ही छायावाद की संज्ञा देते हैं। उनके शब्दों में 'जीवन की परोक्ष अनुभूति छायावाद है।' प्रकृति की अपने जीवन की यथार्थता स्वीकार करने का अर्थ जीवन का नग्न चित्रण मानना वर्मा जी का उद्देश्य कदापि नहीं है। जीवन की यथार्थता से उनका तात्पर्य आन्तरिक अनुभूति-जन्य मानसिक प्रतिक्रिया है। कुछ लोगों ने वर्मा जी के इस विचार और व्याख्या को बड़े ही संकुचित दृष्टिकोण से अपनाया है। प्रकृति की उपेक्षा छायावाद में कभी भी नहीं की गई है और वर्मा जी ने भी प्रकृति की उपेक्षा के लिए कहीं भी नहीं कहा है। प्रधानता की बात समझने के लिए वर्मा जी की जीवन के प्रति आस्था और उनके उदार दृष्टिकोण से परिचित होना बहुत ही अनिवार्य है। सामान्य दृष्टिकोण से देखकर तो आलोचक इस शब्दावली को 'यथार्थवाद' के समकक्ष रख देगे पर वस्तुस्थिति यह है कि कवि-आलोचक, वहाँ खड़े होकर जीवन को देखता है, जीवन का अध्ययन करता है जहाँ उसे जीवन और प्रकृति में कोई अन्तर नहीं दिखायी देता। अपनत्व को भक्तभोर कर जब कलाकार प्रकृति का निर्माण करता है, तो निश्चय ही उसका अपना व्यक्तित्व प्रकृति से भिन्न नहीं दिखायी देता। ऐसी दशा में जो अनुभूति उसे होती है, वही जीवन की सत्यता है। 'यथार्थता' को वह इसी जीवन की सत्यता का पर्याय मानता है। छायावाद का स्वरूप निर्धारित करने के साथ ही डॉ० वर्मा ने मन की कौतूहलपूर्ण स्थिति को छायावाद की अन्तःशक्ति माना है।

आलोचकों का एक वर्ग छायावाद को 'प्रकृति में मानवीय भावों का आरोप' मानता है। यह विश्लेषण पूर्णतः एकांगी हो रह गया है। छायावादी कविताओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति के मानवीकरण के अतिरिक्त काव्य-साधना के पीछे एक चिन्तन, जीवन-दर्शन तथा प्रतिक्रिया भी है। श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय इस वर्ग के प्रतिनिधि आलोचक गिने जा सकते हैं। आचार्य शुक्ल की धारणा इन सभी आलोचकों एवं कवि-समीक्षकों से भिन्न है। प्रकृति के मानवीकरण को वे प्रतीकवाद कह कर स्वीकार करते हैं। परिभाषा और छायावाद के प्रमुख तत्त्वों की विवेचना के अतिरिक्त छायावादी साहित्य के आवश्यक मानदण्डों पर भी विशेष विचार इन कवि-समीक्षकों ने किया है। प्रकृति की संप्राणता, अभिव्यंजकता, प्रतीकात्मकता, दाशैनिकता, सौन्दर्य, व्यक्तित्व-प्रवाशन, अतीत के प्रति मोह, नवीनता की चाह आदि तत्त्वों पर भी इसी परिभाषा और साहित्य-चेतना-चिन्तन के साथ ही विचार किया गया है। अतीत के प्रति मोह इस युग को सबसे बड़ी विशेषता कहनी चाहिए और

उसका कारण तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था मात्र है। सत्यतः छायावादी कवियों की आत्मा को आधुनिकता का आवरण स्वीकार नहीं है, जहाँ उसके चकनाचूर हो जाने की सम्भावना सदैव बनी रहे। प्राचीन संस्कृति की पुकार सभी छायावादी कवि-समीक्षकों ने उठाई है क्योंकि आधुनिक समाज और संस्कृति को देखते हुए इस निष्कर्ष पर आना सहज सम्भाव्य है कि उसी प्राचीनता की कोमल क्रीड़ा हमारी संस्कृति का आदि स्रोत है, वही हमारी सभ्यता है, वही हमारा आदर्श है।

छायावादो विचारों के परिपोषक आलोचकों के अतिरिक्त एक वर्ग ऐसा भी उठ खड़ा हुआ है जो छायावादी-रहस्यवादी रचनाओं को साहित्य की श्रेष्ठ निधि मानने में हिचकिचाता है। डॉ० देवराज तथा प्रगतिशील लेखकों का विचार ऐसा ही है। जो भी हो, हमें यही स्पष्ट भलकता है कि छायावाद दोनों ही विपरीत विचारों की समन्वित सम्पत्ति है। वह एक साहित्यिक साधना अवश्य है इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इस साधना में आत्मा अपने विकारात्मक विचारों का प्रकृति से तादात्म्य करती हुई अपने-आपको ब्रह्म को समर्पित करती है। समर्पण की भावना मात्र ही छायावाद का क्षेत्र है; समर्पण की क्रिया में नहीं। छायावाद में, प्रकृति में ब्रह्म को प्रतिष्ठापित नहीं किया गया है।

जिस नवीनता की चाह ने छायावादो काव्य-चेतना को जन्म दिया है, उसी आधारभूमि पर सौण्डववादी आलोचना का विकास भी हुआ है। कवि-समीक्षकों तथा आलोचकों ने इस नवीन साहित्यिक चेतना का इतना विशद विवेचन किया है कि इसका अपना समीक्षा-शास्त्र ही अलग बन गया है जिसकी आधारभूमि ही स्वच्छन्दता और सौण्डव है। इस आलोचना-पद्धति में काव्य-कृति की अपेक्षा कवि को अधिक प्रश्रय मिला है जिसका परिणाम आत्माभिव्यंजन की प्रधानता है। कवि के व्यक्तित्व तक ही सीमा नहीं हो गयी है वरन् उसकी बाह्य परिस्थितियाँ भी विचारणीय हो गई हैं जिनके बीच कवि का व्यक्तित्व विकसित हो रहा है क्योंकि परिस्थितियों की ही अस्पष्ट छाप उसकी विचारधारा में प्रकट होती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कला-कृति का मूल्यांकन रस, अलंकार, शब्दशक्ति आदि तत्त्वों से न होकर काव्यगत भावनाओं एवं दर्शन से होने लगा है। सूक्ष्म सौन्दर्य और सौण्डव ने समस्त शास्त्रीयता को अपने में समेट लिया है। छायावादी आलोचक एवं कवि, दोनों ही, काव्य-कृति में 'आनन्द' की खोज करते हैं और यही उनका साध्य है। आलोचक भी वही सफल गिना गया जो कवि की अनुभूति को अपनी अनुभूति बना सके; जो आनन्द की उपलब्धि का मार्ग-निर्देशन कर सके।

सौण्डववादी आलोचना की आधारभूमि पूर्णतः भारतीय है। प्रेरणा अवश्यमेव विदेशी तत्त्व है जिससे शक्ति पाकर आलोचक सफल हो सका है। इसका मूल कारण

यह है कि काव्य की मान्यताएँ और छायावादी साहित्य भी पाश्चात्य तत्त्वों को शक्ति पर ही विकसित हुआ है। छायावादी साहित्य के सौष्ठववादी आलोचक को भारतीय भावभूमि, पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्त, तथा विदेशी प्रेरणा-शक्ति का अजस्र प्रवाह मिला है। इस नवीन काव्य-शास्त्र में भी नवीनता प्रतिपादित की गई है। काव्य की आत्मा, स्वरूप, विषय, प्रयोजन आदि के मौलिक विवेचन के साथ ही कवि और विश्व के पारस्परिक सम्बन्ध की धारणा का समावेश इन नवीन सिद्धान्तों में कर लिया गया है। शास्त्र और नियम, सौष्ठववादी आलोचना में कलाकृति और काव्य-जगत् की अपेक्षा, अधिक मान्य हैं। साहित्य के सभी अंगों का नवीन ढंग से मौलिक चिन्तन इसी का परिणाम है। इसके लिए भी कवि और आलोचक दोनों ने निगमनात्मक प्रणाली अपनायी है। किसी विशेष परिस्थिति में लिखी गयी कविता पर उस परिस्थिति-विशेष की बड़ी गहरी छाप होती है। उन विशेष परिस्थितियों के विश्लेषण तथा कवि के आन्तरिक व्यक्तित्व की विवेचना करने पर जो स्वरूप स्पष्ट होता है, उसे ही सौष्ठववादी आलोचक काव्य का स्वरूप मानता है। पन्तजी ने 'पल्लव' को भूमिका में काव्य की परिभाषा बड़े ही भावात्मक ढंग से प्रस्तुत की है। उनके विचारों में 'कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है; हमारे प्राणों का संगीत है।' यों हिन्दी के लिए यह भावात्मक विश्लेषण सम्भवतः कुछ समय के लिए बड़ा ही प्रिय हो गया हो पर यह कोई नयी कल्पना नहीं थी। योरोपीय साहित्यकार वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) ने भी इसी भावना को प्रकट किया था। प्रसाद जी काव्य को 'आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति' मानते हैं। कविवर पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में काव्य के सभी तत्त्वों पर अपना विचार प्रकट किया है। शब्द और अर्थ उनके विचारों में काव्य के बाह्याडम्बर मात्र हैं। छन्द हृदकम्पन का स्थान पाता है। प्रयास मात्र से लिखी हुई कविता में भले ही छन्द, गुण, शक्ति, रस, अलंकार की निराली छटा हो, पर अनुभूति की तीव्रता की कमी साधारणीकरण की स्थिति से सर्वदा अलग रखेगा। इस समूचे वर्ग का विचार है कि आनन्द हृदय की वस्तु है, जो साहित्यिक साधना की देन हो सकती है। कृत्रिमता से आनन्द के सहज एवं सरल स्वरूप में बाधा पड़ती है क्योंकि काव्य के बाह्याडम्बर मात्र से अनुभूति नहीं हो सकती। रस, प्रयास की वस्तु नहीं है वरन् हृदय की सरस अनुभूति है। शब्द और अर्थ, दोनों ही रस की प्रवाहित स्रोतस्विनी में अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं रखते। काव्य-सौन्दर्य शब्द, अर्थ, रस, अलंकार भाषा, भाव, अनुभूति तथा तादात्म्य के सहज सम्मिश्रण पर आधारित है न कि किसी तत्त्वविशेष की कलाबाजी पर। छायावादी आलोचक इन सभी तत्त्वों का सम्मिश्रण एवं उसकी सरस अनुभूति चाहता है। इनकी गठन में किसी प्रकार की कमी एवं शिथिलता कविता की सम्पूर्णता का विनाश कर देती है। काव्य के हेतुओं पर भी इन कवियों ने अपना विचार प्रकट किया है। प्राचीन परम्परागत काव्य-हेतु, अपने सम्पूर्ण

रूप में इस साहित्य-चेतना का हेतु नहीं बन सका है। शक्ति के आगे अभ्यास को झुक जाना पड़ा है। इसी प्रकार उद्देश्य अथवा लक्ष्य की बात है। उद्देश्य यश, अर्थ, काम, मोक्ष तक ही सीमित नहीं रह सका है वरन् इनसे परे आत्मानन्द की प्राप्ति काव्य का उद्देश्य हो गया है। छायावादी कवियों ने हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि की वाणी को अपना लक्ष्य बना लिया है कि कविता स्वान्तःमुखाय लिखी जाती है और इसी लक्ष्य के साथ ही आनन्द की सहज अनुभूति हो सकती है। हिन्दी-आलोचकों को ही क्या, रवीन्द्र बाबू को भी छायावादी कवियों की स्वान्तःमुखाय की बातें, बहुत रुचिकर प्रतीत नहीं हुईं। उन्होंने इसे आत्मानन्द की प्राप्ति न समझकर, अकर्मण्यता की पहली सीढ़ी स्वीकार किया है और इस कल्पना को ही असंयत और असामयिक बतलाया है। इसका कारण भी उन्होंने दिया है कि जिस सामाजिक पृष्ठभूमि पर तुलसी की काव्य-साधना है, वह धर्म का संघर्षकालीन युग था; आदर्शों की पारस्परिक मुठभेड़ थी, दर्शन का पारस्परिक संघर्ष था, तथा धार्मिक विशृङ्खलता का युग था। उस युग के लिए तो तुलसी की वाणी ठीक उतरती है; पर आज के युग के लिए भी यदि साहित्यकार वही कहे, तो हम कई शताब्दी पीछे चले जाते हैं। हम इस सत्यता को स्वीकार कर, अपनी प्रगति की उपेक्षा करते हैं; समाज की ओर से आँखें बन्द किए हुए हैं।

उद्देश्य की चर्चा करते हुए कवि-समीक्षक प्रसाद जी ने अपना विचार प्रकट किया है कि स्वच्छन्दतावादी कवि का उद्देश्य केवल आनन्द की सृष्टि है; न तो उसे किसी को उपदेश देना है और न उसे किसी आदर्श की हामी भरनी है। यदि उस साहित्य से समाज को, आनन्द के अतिरिक्त, आदर्शों की प्रेरणा भी मिलती है तो सोने में सुगन्ध है, और नहीं तो, वह किसी प्रकार भी साहित्यकार का उत्तरदायित्व नहीं है। छायावादी साहित्यकार कभी भी प्रचार को अपना क्षेत्र नहीं बना सका है। सौन्दर्य ही उसकी भूख है, उसकी प्यास है, उसका संसार है। वह उसी की साधना में अपने को व्यस्त रखना चाहता है क्योंकि जो वस्तु सुन्दर है, वह सत्य है, और वही मंगल भी है। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की उपासना के अतिरिक्त छायावादी कवि-समीक्षक और कुछ नहीं चाहता। सच तो यह है कि स्वच्छन्दतावादी आलोचक को भारतीय साहित्यिक चिन्तनधारा की रूढ़िवादिता सिद्धान्ततः स्वीकार नहीं थी। काव्य-सिद्धान्तों, विश्वासों, शैली, नीति, कवि-परम्परा आदि की मान्यताएँ उन्हें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाईं। इसीलिए सार्वजनिक, सार्वदेशिक और चिरन्तन सत्य के प्रतिष्ठापन की आवाज़ हिन्दी के आलोचकों ने उठाई है।

स्वच्छन्दता और सीष्ठववादी आलोचक के लिए यह बात कही जाती है कि सिद्धान्तों एवं काव्यसम्बन्धी विश्वासों के लिए उसे विदेशी समीक्षकों की ओर

सर्वदा देखना पड़ा है। यही कारण है कि इस युग के आलोचक का दृष्टिकोण पाश्चात्य विचारधारा से अधिक प्रभावित दिखायी देता है, उसे अपनी अनुभूति तथा विचारों को एक स्वरूप देना है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस आलोचना-पद्धति का क्रमिक विकास हुआ है। इस शैली-विशेष में कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं जो परम्परा से विकसित हुए हैं; कुछ ऐसे हैं जो पाश्चात्य सिद्धान्तों की देन हैं और कुछ ऐसे हैं जो वस्तुतः नवीन चेतना के प्रतीक हैं। नीति और सौष्ठव का प्रारम्भ शुक्ल जी के हाथों से हुआ है तथा उसका परिमार्जन परवर्ती आलोचकों द्वारा। शुक्लजी ने पृष्ठभूमि और साहित्यिक चेतना को जन्म दे दिया था, उसकी आत्मा और स्वरूप को विविध रूप तथा जीवन-दर्शन देने का कार्य सौष्ठववादी आलोचकों तथा छायावादी कवि-समीक्षकों ने किया है। परम्परा के विरोध से इस साहित्यिक साधना का प्रारम्भ होता है और इस कार्य का श्रीगणेश भी द्विवेदी जी द्वारा हो गया था। 'इन्दु' के प्रकाशन ने भी इस आलोचना-पद्धति को विकसित किया है। 'प्रसाद' जी का स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण 'इन्दु' के सम्पादकीय से ही स्पष्ट हुआ है। इतना ही नहीं; वरन् सौष्ठववादी आलोचना का प्रारम्भ भी 'इन्दु' के प्रकाशन के साथ ही होता है। यह विचारधारा कई वर्षों तक आलोचकों एवं कवियों को मनोभूमि में ही सीमित रही और विकसित होती रही। प्रौढ़ चिन्तन और सतर्कता के फलस्वरूप इसे सर्वप्रथम, लिखित रूप में, सुमित्रानन्दन पन्त को 'पल्लव' की भूमिका में प्रकट करने का अवसर मिला है। प्रौढ़ चिन्तन, शक्ति और व्यक्तित्व का इतना गहरा हाथ इस विचारधारा में था कि उससे प्रभावित हुए बिना पहले के आलोचक भी न रह सके। प्रसाद जी इस परम्परा के सबसे पहले आलोचक हैं। उन्होंने 'इन्दु' में प्रकाशित अपने लेखों में जिन मानदण्डों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया, उससे सौष्ठववादी आलोचना का स्वरूप स्पष्ट होने में सहायता मिली है। उनको सबसे बड़ी विशेषता यह है कि न केवल उन्होंने सिद्धान्तों की ओर ही लोगों का ध्यान आकर्षित किया वरन् उसे कार्यरूप में बदल कर सफल उदाहरण भी साहित्य-मर्मज्ञों के सामने रख दिया है। प्रसाद ने सिद्धान्त स्पष्ट किये हैं, उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं और सफल प्रयोग किये हैं। उन्होंने किसी भी सम्प्रदाय अथवा वाद को उसी रूप में स्वीकार नहीं किया है क्योंकि उनके भीतर के जागरूक एवं चिन्तक साहित्यकार ने उसे दर्शन-भूमि से सम्बन्धित कर दिया है। परम्परा से चले आये साहित्य-सिद्धान्तों को उन्होंने 'तर्क और विवेक की देन' कहकर छोड़ दिया है। उन्होंने भारतीय साहित्यशास्त्र का अध्ययन किया है; अनुशीलन किया है और मनन किया है। रस-सिद्धान्त के वे पूर्णतः भक्त हैं। रस को 'आनन्दरस' कह कर स्वीकार किया है। प्रसाद जी की विलक्षणता का संकेत उस समय मिलता है जबकि उनके अन्धविश्वास की ओर कोई भी संकेत नहीं मिलता। साधारणीकरण के सिद्धान्त को उन्होंने इस प्रकार सजीव कर दिया है कि जब तक हिन्दी-साहित्य जीवित

है; उसे अशक्त प्रमाणित करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। काव्य को आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति मानते हुए वे काव्यानन्द को श्रेयस् और प्रेयस् का समन्वित रूप स्वीकार करते हैं, आदर्शों में वे सदैव समन्वयवादी हैं। भारतीय रसवाद का समर्थन आलोचक प्रसाद जी के विचारों को पूर्णतः मिल सा गया है, ऐसा कुछ आलोचक मानते हैं पर मैं इसमें थोड़ा सा अन्तर कर लेना उचित समझता हूँ। जहाँ भारतीय रसधारा पूर्णतः स्वतन्त्र और परिस्थितिगत संस्कारों से अलग है वहाँ पाश्चात्य विचारधारा प्रयास और प्रयोग का माध्यम लेकर परिस्थिति और संस्कारों से पराजित है। मूलतः संवेदना का स्वरूप ही कुछ भिन्न है। इसी विदेशी समीक्षा-सिद्धान्त के प्रभाव के कारण भारतीय सतर्क आलोचक की अनुभूति और अभिव्यक्ति से अपने को बाहर नहीं निकाल पाये हैं।

प्रसाद के बाद सौष्ठववादी एवं स्वच्छन्दतावादी कवि-समीक्षकों में पन्त का स्थान आता है। सबसे पहले उन्होंने 'पल्लव' की भूमिका में छायावादी कविता की विशेषताओं, स्वरूप, आत्मा तथा मान्यताओं की ओर साहित्य-जगत् का ध्यान आकर्षित किया था। इसके पश्चात् एक ऐसी परम्परा चल गई है कि पन्तजी तथा अन्य कवियों ने 'भूमिका' के रूप में अपने विचारों को स्पष्ट करना प्रारम्भ कर दिया है। विशेषतः इन आलोचनाओं में कवि-विशेष की विचारधारा का परिचय मिल जाता है, उसकी कविताओं का परिचय मिल जाता है, और उसकी मान्यता का समुचित विश्लेषण मिल जाता है। काव्य-जगत् में पन्तजी का विकास 'भाव-जगत् से बुद्धि की ओर' हुआ है। 'पल्लव' और 'गुंजन' के पश्चात् उनकी विचारधारा में एक मोड़ आता है जो बुद्धिवादी दृष्टिकोण का परिचय देता है। आलोचक के रूप में पन्तजी ने स्पष्ट कर दिया है कि काव्यधारा का स्वतंत्र अध्ययन एवं चिन्तन ही उनका ध्येय रहा है। भाषा और भाव के अभिन्न सम्बन्ध को प्रतिष्ठापित करते हुए पन्त ने इसे खुले शब्दों में रख दिया है कि 'काव्य की परख शब्दों के अर्थ की पूर्ण अनुभूति में है'। पन्त जी का कवि, आलोचक की सम्पूर्ण चेतनाओं से परिपूर्ण है—इसमें सन्देह नहीं है। उन्होंने छायावादी कविता के समस्त तत्त्वों पर अपना विचार प्रकट किया है।

पन्तजी के साथ महादेवी जी का नाम अनायास ही आ जाता है। इन्होंने भी पन्त जी द्वारा अपनायी गई 'अमुख' प्रणाली को अपनाया है और अपने कविता-संग्रहों की भूमिका के रूप में अपने विचारों को पाठकबुन्द के सामने रक्खा है। महादेवी जी का ध्येय साहित्यदर्शन और काव्य की ऐतिहासिक गतिविधि मात्र रहा है। वादों के प्रपंच ने महादेवी जी को अवश्य ही अधिक जकड़ दिया है। छायावाद, रहस्यवाद तथा प्रगतिवाद की साहित्य-चिन्तनधारा ही इनका क्षेत्र रहा है। इनकी आलोचना का केन्द्र अपेक्षाकृत रहस्यवाद रहा है। साध्य, साधन और स्वरूप की रूपरेखा स्थिर

करते हुए महादेवी ने लिखा है कि 'सत्य काव्य का साध्य है, सौन्दर्य उसका साधन है'। सौष्ठववादी आलोचना-क्षेत्र में महादेवी जी का वही स्थान है जो आलोचना-क्षेत्र में बाबू श्यामसुन्दरदास का। इनकी आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता प्रयोगात्मकता है। इसके साथ ही उन्होंने भावात्मकता को प्रधानता देते हुए साहित्य का उद्देश्य सौन्दर्य और मंगल के सामंजस्य में केन्द्रित कर दिया है।

निराला जी इस क्षेत्र के महान् क्रान्तिकारी साहित्यकार हैं। प्रसाद, पन्त और महादेवी ने अपनी भावुकता की रक्षा के लिए भी सदैव प्रयत्न किया है। जिस प्रकार की भावभूमि छायावादी कवियों ने प्रारम्भ में ही अपनाकर, जिस उद्देश्य से लेखनी उठाई, उसका तर्कपूर्ण प्रतिपादन भी किया है। निराला जी का, घिसी-पिटी साहित्यचिन्तन-धारा से कोई समझौता नहीं हो सका। क्या वाद, क्या कविता का स्वरूप, सभी में आमूल परिवर्तन और नवीनता का प्रतिपादन कवि निराला की हिन्दी-साहित्य के लिए सबसे बड़ी देन है। छन्द, भाव, भाषा और विषय—सभी स्थलों पर, सभी तत्त्वों में, स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण, यदि अपने पूर्ण अर्थ में कहीं अवगत होता है तो वह, निराला का ही व्यक्तित्व और साहित्य-चिन्तन है। परम्परागत छन्दों की रूढ़ शैली को हटाकर, उसी के समकक्ष अनुकान्त और मुक्त छन्द का प्रयोग ही साहित्य के कलापक्ष में सबसे बड़ी क्रान्ति है। इसी प्रकार विषय और अलंकारों में भी एक नया प्रयोग निराला ने किया है। निराला जी काव्य में ही नहीं, वरन् विचारों में भी स्वच्छन्द हैं और उनकी इस विशेष प्रवृत्ति के कारण छायावादी साहित्य-क्षेत्र में ही उनकी तीव्र आलोचना की गयी। निराला जी ने भारतीय शास्त्रीय साहित्यशास्त्र तथा पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का अच्छा अध्ययन किया है। उसका प्रभाव यह हुआ है कि उनकी विचारधारा में दोनों ही तत्त्व समाविष्ट हो गये हैं। इससे भी आगे आकर उन्होंने काव्य और कला का नया रूप, दर्शन और चिन्तन के माध्यम से, व्यक्त किया है। कला के अन्तर्गत ही निराला के आलोचक ने भारतीय साहित्यशास्त्र के मूल तत्त्वों का, रसादि उपकरणों का, अन्तर्भाव कर दिया है। उन्हें काव्य का समन्वय स्वीकार है। वे काव्य के उस स्वरूप को स्वीकार करते हैं जिसमें काव्य के सभी तत्त्वों का समावेश हो। वे वाक्य में कला-सौष्ठव देखना चाहते हैं। निराला की आलोचना-पद्धति को सौष्ठववादी आलोचना का प्रौढ़ उदाहरण कहा जा सकता है।

स्वच्छन्दतावादी तथा सौष्ठववादी आलोचकों में, केवल आलोचना को ही जिन्होंने अपनाया है, वे दो आलोचक हैं—नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० नगेन्द्र। नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी-आलोचना में स्वच्छन्द विचारों के साथ आये ही हैं। पीटर और एडिसन की विचारधारा आदर्शरूप में अपने सामने रखकर पदार्पण करना ही परम्परा का विरोध और सौष्ठव का स्वागत करना है, पर इसका संकेत करना न

भूलना चाहिए कि पाश्चात्य विचारों को लेकर ही हिन्दी-आलोचनाक्षेत्र में उतरना बहुत-कुछ अपेक्षित नहीं है। हिन्दी-आलोचना का इतिहास एक साथ देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विषय-प्रतिपादन में पाश्चात्य सिद्धान्तों को भले ही सम्बल मान लिया गया हो, पर आदर्श भारतीय ही रहे हैं; उनकी पृष्ठभूमि भारतीय रही है और साथ ही पहले के आलोचकों की विचारधारा का ही विकास हुआ है। द्विवेदी और मिश्रबन्धुओं की आलोचना की आधारभूमि पर शुक्ल जी खड़े हुए। समकालीन सभी शैलियाँ समानान्तर ही विकसित हुईं। शुक्ल जी ने सभी का समन्वित रूप साहित्य-समीक्षा के लिए उपयुक्त बतलाया। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी और रामकुमार वर्मा मूलतः आलोचक नहीं हैं, वरन् पहले ये कवि हैं, और तब और कुछ। इसीलिए इन्हें मैंने 'कवि-समीक्षक' से सम्बोधित किया है। हाँ, इतना अवश्य ही इनसे मिलता है कि काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं के विषय में आलोचक के लिए पृष्ठभूमि बन गयी है। सच तो यह है कि ये कवि-समीक्षक अपने पर होने वाले आघातों का उत्तर किसी न किसी तरह देते रहे हैं। इसलिए इनमें अध्ययन की कमी नहीं आ पायी है और अध्ययन को मुखर वाणी का आधार मिलते ही साहित्य-चिन्तन का स्वरूप निखर पड़ा है। वाजपेयी जी के लिए शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति और इन कवि-समीक्षकों की विचारधारा का संयत स्वरूप पृष्ठभूमि के रूप में मिला है। जिस समय वाजपेयी जी आलोचना-क्षेत्र में आते हैं उस समय आलोचना की विभिन्न शैलियों का सतत विकास हो रहा था। वाजपेयी जी के लिए सभी साधन उपलब्ध थे। परम्परा के लिए शुक्ल जी की अमूल्य निधि थी, अध्ययन और अनुशीलन के लिए पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्त थे, और समकालीन आलोचना की बढ़ती हुई प्रगति थी। न तो उन्हें सिद्धान्तों की मान्यता प्रतिपादित करनी थी, न उन्हें सिद्धान्त बनाने थे और न उन्हें सौन्दर्य आदि उपकरणों को व्याख्या ही करनी थी। यदि प्रसंगवश विश्लेषण हो जाय तो दूसरी बात है, पर उनका उद्देश्य समीक्षा-सिद्धान्त-निरूपण एवं विश्लेषण का नहीं रहा है। उन्हें परम्परा से मिली हुई थाती का प्रयोग मात्र करना था।

हमारे उपर्युक्त कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वाजपेयी जी को मौलिकता से तनिक भी काम नहीं लेना था। उसका तात्पर्य यही है कि पृष्ठभूमि संयत थी; आवश्यकता थी तो केवल एक सजग आलोचक की, जो समय की आवश्यकता को पहचान कर कदम उठा सके। वाजपेयीजी ने बड़ी ही सफलता से उसे पूरा किया है। समय-समय और प्रसंगवश आये हुए सिद्धान्त-निरूपण में भी वाजपेयीजी ने कमी नहीं की है। फलतः सजग भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों का किसी न किसी रूप में विश्लेषण, विवेचन और प्रतिपादन हो गया है। उसकी परम्परागत मान्यता से वाजपेयीजी सहमत नहीं हैं। वे उसे संकुचित क्षेत्र की वस्तु के रूप में स्वीकार नहीं करते। वे उसे संकुचित क्षेत्र से बाहर ले आकर काव्य के अन्य तत्वों की समभूमि पर रखना उचित

संभूते हैं। उनका तर्क है कि रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहकर उसकी आड़ में अनेक ऐसे तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है जो भारतीय संस्कृति और समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। वे अपने को अभिव्यञ्जनावादी या साधारणीकरण-समर्थक नहीं मानते। 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं सदी' में अनेक स्थल ऐसे हैं जिनसे इसका आशय स्पष्ट हो जाता है। पाश्चात्य साहित्यकारों की देन, अनुभूति और अभिव्यक्ति, उन्हें मान्य है पर उसमें संयम होना अनिवार्य है। वे मानते हैं कि असंयत अभिव्यक्ति को काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अलंकार को भी वे अनावश्यक मानते हैं और उनका विचार है कि कविता उच्चस्तर पर पहुँचकर अलंकारविहीन हो जाती है। उस दशा में वह कविता हृदय को अनायास ही अपनी ओर खींच लेगी। काव्य की सफलता इसी में है कि वह बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा अन्तःसौन्दर्य से पूर्ण हो और अनायास ही मन को अपनी ओर खींच ले। अलंकार ऐसी दशा में, काव्य की भाषा के ही अंग रहते हैं न कि अन्यथा प्रयास के परिणामस्वरूप बाह्य-सौन्दर्य के साधन। बाह्य-सौन्दर्य के साधन के रूप में अलंकारों का विधान साहित्यिक प्रगति में बाधक होता है। इसी प्रकार शक्ति और गुराणों के विश्लेषण में भी वाजपेयीजी का अपना नया विश्लेषण है।

काव्य के उद्देश्यों की ओर संकेत करते हुए वाजपेयी ने लिखा है कि काव्य में स्थूल उपयोगिता का सिद्धान्त किसी प्रकार भी मान्य नहीं होना चाहिए। उस पद्य-मय रचना को, जिसमें जीवन-दर्शन, प्रेरणा, संस्कृतिक चेतना और भावनाओं के परिष्करण की शक्ति न हो, काव्य की श्रेणी में लाना, साहित्य में गन्दगी फैलाना मात्र है। वे मानते हैं कि कला यदि श्रेष्ठ है तो उसमें किसी भी भाँति श्लीलता-अश्लीलता का प्रश्न नहीं उठ सकता, पर उसकी परख के लिए आलोचक में भी एक संयम की आवश्यकता है। साहित्य में वह भी अंश अश्लील गिना जाता है जो मानव-जीवन की प्रगति न दे सके; जो निर्बल हो। अतः साहित्य को जीवन के लिए अजस्र स्रोत होना चाहिए। उसमें समाज, संस्कृति, जीवन, विश्लेषण, नियम, विधान और विनाश का स्थान, अलग-अलग और अपने-अपने स्थान पर होना चाहिए।

वाजपेयीजी की सौष्ठववादी आलोचना का प्रयोगात्मक रूप उनकी तीन कृतियों—'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं सदी', 'जयशंकरप्रसाद' और 'सूर-सन्दर्भ' में स्पष्ट हुआ है। पहली दो रचनाओं में तो वाजपेयीजी की उस प्रवृत्ति का विकास हुआ है जिसमें उनकी अन्वेषक-प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। समय-समय पर प्रसंगानुसार कलाकृति की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए समीक्षा-सिद्धान्तों पर भी उन्होंने अपना विचार प्रकट किया है। इस क्षेत्र में आलोचक ने बड़े ही मार्मिक और सफल प्रयोग किये हैं। प्राचीनता और नवीनता के सहज सामंजस्य को नया स्वरूप देकर उसमें जीवन देने का कार्य वाजपेयीजी ने किया है। प्राचीनता के प्रति उनका कोई विशेष विरोध नहीं है और

न नवीनता के प्रति विशेष आकर्षण वरन् दोनों के संयत सामंजस्य को ही उन्होंने साहित्य-क्षेत्र में प्रथम दिया है। आधुनिक काव्य-चेतना के लिए उपयुक्त भारतीय काव्य-तत्त्वों को ग्रहण करने में उन्होंने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया है और भारतीय समाज के उपयुक्त तथा आदर्शों के अनुकूल पाश्चात्य सिद्धान्तों को भारतीय स्वरूप देने में भी किसी प्रकार का छद्म प्रदर्शित नहीं किया है।

डॉ० नगेन्द्र इस परम्परा के एक सफल सैनिक की भाँति साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, पर जिस प्रकार वाजपेयीजी में पाश्चात्य तत्त्वों की अधिकता है, उसी प्रकार नगेन्द्रजी में भारतीय तत्त्वों के सिद्धान्तों की अधिकता है। प्रारम्भिक आलोचनात्मक लेखों तथा पुस्त की आलोचना को देखकर प्रारम्भ में कोई भी इसे स्वीकार कर सकता है कि नगेन्द्रजी में स्वच्छन्दतावादी विचारधारा के तत्त्व अधिक मात्रा में विद्यमान हैं पर आगे चलकर, उन इने-गिने संकेतों का प्रसार ही हो पाया है जो उन्हें शास्त्रीयता के निकट ले जाते हैं। परम्परा और शास्त्रीयता की चाह से उनके आन्तरिक व्यक्तित्व की नवीनता की चाह की हत्या हो गयी है। उनकी नवीन शैली, भाषा, अलंकार, रस, साधारणीकरण, छन्द, प्रयोग, शब्दशक्ति, गुण आदि सभी मान्यताएँ परम्परावादी जैसी होकर नवीनता की उपेक्षा कर बैठी हैं। उन्हें शुक्लजी की शास्त्रीयतापूर्ण नवीनता की धूमिल छाया कहीं अधिक रुचिकर लगी है। स्पष्ट है कि नवीन काव्य-चेतना के प्रति वे उदासीन हैं। शुक्लजी की आलोचनापद्धति के अनुकरण की प्रवृत्ति का स्पष्ट संकेत तो 'सुमित्रानन्दन' नामक कृति में ही मिलने लगा था, आशा थी कि आगे चलकर आलोचक अपने स्वत्व को पुनः प्राप्त कर लेगा। पर ऐसा हो नहीं सका है। 'रीतिसाहित्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता' में यह सम्भावना थी कि विचारक आलोचक परम्पराओं को नया स्वरूप देगा पर परिणाम कुछ उलटा हो हुआ है। उसने अपना ही व्यक्तित्व परम्पराओं में खो दिया है। उसके लिए रस-सिद्धान्त उसी प्रकार रह गये हैं जैसा कि देव के युग में रहा होगा, छन्द की उपयोगिता वैसी ही रह गयी है, जैसा कि देव ने प्रयोग किया है। अलंकार और नायिका-भेद के जाल से नगेन्द्र का सतर्क आलोचक निकल नहीं सका है।

डॉ० नगेन्द्र जैसे आलोचक से आशा यह थी कि वह फैली हुई भ्रान्ति को मिटाकर साहित्य-विवेचना को नया स्वरूप देगा, उसकी मान्यताओं को नयी योजना देगा, उसे नया साहित्य देगा, पर सम्पादन-कार्य को लेकर सतर्क आलोचक ने ठोस कदम नहीं उठाया है। चन्द इने-गिने आलोचनात्मक निबन्धों को छोड़कर कहीं भी विचारधारा के स्पष्टीकरण या प्रतिपादन के लिए कभी भी डॉ० नगेन्द्र के आलोचक ने लेखनी नहीं उठायी है। स्पष्ट कहा जा सकता है, आलोचक नगेन्द्र हमें पुनः शुक्ल जी के समय में ले जाना चाहते हैं जहाँ हमारे समाज और साहित्य से पीछे पड़ जाने

की सम्भावना है। शुक्ल जी की परम्परा अपनाने के साथ ही स्वच्छन्दतावादी आलोचकों की विशेषता भी डॉ० नगेन्द्र में दिखायी पड़ती है। यह कहना सचमुच बहुत ही कठिन है कि डॉ० नगेन्द्र किस पद्धति के अनुगामी हैं। पिछली दोनों पद्धतियों का सफल समन्वय भी इनमें नहीं हो पाया है। यदि सच्चाई के साथ कहा जाय तो नगेन्द्र जी की विचारधारा में खिचड़ीपन स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इतना ही नहीं, वरन् आगे आने वाली विचारधारा का, जिसे हम मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कह सकते हैं, दर्शन होने लगता है। व्यक्ति, कला, विषय-परीक्षण आदि की दृष्टि से नगेन्द्र जी अपेक्षाकृत मनोवैज्ञानिक आलोचक ही अधिक हैं; स्वच्छन्दतावादी या सौष्ठववादी कम। कहना यों चाहिए कि डॉ० नगेन्द्र का आलोचक व्यक्तित्व हिन्दी आलोचना की वह त्रिवेणी है जहाँ शुक्ल की शास्त्रीयता, प्रसाद-पन्त आदि की नवीनता और स्वच्छन्दता तथा मनोविज्ञान की तीव्र विचार-धाराएँ, अपने-अपने स्थान पर, अलग-अलग, पर एक ही व्यक्तिप्रधान विचारधारा में सन्निहित हो गयी है।

समकालीन अन्य आलोचकों में शान्तिप्रिय द्विवेदी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० सत्येन्द्र, रामनाथ 'सुमन', लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' आदि के नाम लिये जाते हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी समय की देन हैं, परिस्थितियों की उपज हैं। ये निबन्ध-लेखक पहले हैं और आलोचक बाद में। साथ ही इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि आलोचक की पैनी दृष्टि द्विवेदी जी को अवश्य मिली है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत के विद्वान् होने के कारण पहले तो अपने लिए शुक्ल-पद्धति को ही अपनाया है पर 'बबीर' में अपने को समय के अनुसार कुछ मोड़ दिया है। 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' में अपेक्षाकृत और भी अधिक सौष्ठववादी प्रवृत्ति के निकट आ गये हैं। डॉ० सत्येन्द्र ने अपने लिए प्राचीन शास्त्रीय पद्धति को चुना है, जो निश्चय ही समय के साथ पूर्ण न्याय नहीं है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिन्दी-आलोचनाक्षेत्र में सौष्ठववादी आलोचना अभी भी प्रगतिशील है।

अध्ययन और चिन्तन के साथ ही हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में कुछ प्रौढ़ता अवश्य आ गयी है। आलोचक, परम्पराओं से धीरे-धीरे दूर हो रहा है और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अपनी ओर खींचता चल रहा है। फ्रायड ने इस विवेचन द्वारा आलोचना-क्षेत्र में भी एक क्रांति भर दी है। फ्रायड ने साहित्य को, अतृप्त वासनाओं को प्रकट करने का सबसे उत्तम साधन स्वीकार किया है। सम्यता और संस्कृति, साहित्य और कला—सभी के विकास में हीनता-उच्चता की भावना से परिपूर्ण ये अतृप्त काम-वासनाएँ ही कार्य करती रहती हैं। मानव का व्यष्टि तथा समष्टिगत भेद-विभेद और उत्थान-पतन का इतिहास इसी पर आधारित है। एडलर तथा जुङ्ग ने भी इसी सिद्धान्त को अपनाया है और विश्व के समस्त उपकरणों के कारणों की खोज के लिए मनोविश्लेषण

ही अपनाया गया है। इन योरोपीय विचारकों के अनुसार जीवनेच्छा भी एक वासना है जिसमें धन, पुत्र, यश की काम-वासना छिपी होती है। इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर मनुष्य अपने को अमर बनाने की लालसा करता है और साहित्य-चिन्तन ही एकमात्र साधन है जहाँ आन्तरिक मनोवेगों को स्वरूप मिलने के साथ ही स्थायित्व भी मिल सकता है। फ्रायड की यह वासना-प्रकाशन की मान्यता और सिद्धान्त, साहित्य के लिए पूर्णतः सत्य नहीं है। कलाकार अभिव्यक्ति चाहता है क्योंकि उसी से आन्तरिक आनन्द मिल सकता है। आनन्द और मंगल की कामना मात्र में वासना-प्रकाशन के तत्त्व नहीं हैं यदि बहुत ही संयत ढंग से उस पर विचार किया जाता।

हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रधानता आ गयी। यों तो शुक्ल जी से लेकर आज तक के सभी आलोचकों ने व्यक्तित्व के अध्ययन में मनोविज्ञान का ही सहारा लिया है, पर आलोचना-शैली के रूप में इसकी मान्यता, पाश्चात्य अनुकरण के आधार पर इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय द्वारा प्रतिपादित की गयी है। इन आलोचकों द्वारा साहित्य-समीक्षा में फ्रायड और एडलर का ही योगात्मक स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इनके अनुसार साहित्य का निर्माण ही किसी विशेष परिस्थिति में और संघर्षों के कारण होता है। अपने आप से विवश होकर कलाकार साहित्य का निर्माण करता है—ऐसा यह आलोचक-वर्ग मानता है, पर प्रात साहित्य, व्यक्तित्व और स्थायित्व का परिवेक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मनोवैज्ञानिकता के ये सिद्धान्त कुछ अंशों में पूरे और सही तो हो सकते हैं पर मूलतः इन्हीं को आधार-भूमि मानकर साहित्य-चिन्तन प्रस्तुत किया जाय—इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। काव्य-सृष्टि के और भी कई कारण होते हैं जिनका अस्तित्व व्यक्तिगत मनोविज्ञान से कहीं अधिक होता है। हाँ, यह हो सकता है कि कहीं-कहीं इच्छाओं का असंयत प्रकाशन हो गया हो पर उसे ही एकमात्र साहित्य मान बैठना एक बड़ी भारी भूल होगी। इन आलोचकों का एक दृष्टिकोण बड़ा ही स्पष्ट है कि जो कुछ भी साहित्य-समीक्षा और सृजन के नाम पर चला आ रहा हो, उसे स्वीकार न किया जाय। जोशी जी ने तो समन्वय खोजने का प्रयत्न किया है। यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि मनोविश्लेषण का सिद्धान्त हिन्दी-आलोचना को स्वीकार नहीं हो सका है। वह आलोचना का एक अंग भर बन पाया है, अंगी नहीं।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति के साथ ही मार्क्सवादी दृष्टिकोण की अवतारणा हिन्दी-क्षेत्र में हुई। मार्क्स के दर्शन को हम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम से जानते हैं जिसका आधार जगत् का यथार्थ स्वरूप है। वस्तुगत सत्यता स्वीकार करते हुए मार्क्स-दर्शन बुद्धि, विचार, आत्मा आदि को उसी की प्रतिच्छाया मानता है। अतः सम्पूर्ण चिन्तन किसी न किसी परिस्थिति की देन और वस्तुगत सत्य है। जीवन के

मूल में पदार्थ और चेतना है। भारतीय दर्शन पदार्थ को असत्य और चेतना को सत्य मानता है। मार्क्स-दर्शन चेतना को असत्य और पदार्थ की सत्यता स्वीकार करता है। भारतीय अध्यात्मवादी विरक्ति का आश्रय लेते हैं और मार्क्सवादी जीवन की अनुरक्ति में विश्वास रखते हैं। भारतीय दर्शन तथा मार्क्सवादी दर्शन दोनों में एक प्रमुख अन्तर है कि एक इस विश्व को ही नश्वर मानता है और दूसरा विश्व-सौन्दर्य को सब कुछ मानते हुए, उसकी अमरता की हामी भरता है।

भौतिकवादी सिद्धान्तों के अनुसार समाज दो वर्गों से बना हुआ है और उसका विकास उन्हीं दोनों वर्गों के पारस्परिक संघर्ष पर अवलम्बित है। एक वर्ग पूँजीपति है और दूसरा सर्वहारा। एक सामन्तशाही के टूटे-फूटे खण्डहरों का स्वप्न है और दूसरा गतिमय पदार्थों की शक्ति का। एक शोषक है, दूसरा शोषित; एक सुख है और दूसरा खून! मार्क्स ने इसी पशुत्व को मानवता में बदलने का निश्चय किया था। उसके अनुसार समाज में वैषम्य का एकमात्र कारण आर्थिक राक्षसत्व है; उसी का विनाश आवश्यक है। वह चाहता था कि समाज में किसी प्रकार का वर्गीकरण न रह जाय, पूँजीपति और दरिद्रता की भावना मिलकर एक हो जाय। वस्तुतः वह आर्थिक पशुत्व का विनाश कर, पूर्ण मानव का रूप शुद्ध और स्थिर करना चाहता था।

हिन्दी-आलोचना में जब मार्क्सवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ तो अनेक विकृतियों से पार कर यह विचारधारा आयी थी। अध्ययन और उसके व्यक्तिगत विचारों के अनुकूल प्रतिपादन ने उसका स्वरूप ही बदल दिया था। वह केवल आर्थिक सिद्धान्त न रह कर 'नैतिकता' का स्तर ले रहा था। ऐसी दशा में, हिन्दी-आलोचकों ने उसे उसी रूप में स्वीकार कर लिया है जिस रूप में वह विचार-धारा उनके सामने आयी। उसमें फ्रायड और ऐडलर के सिद्धान्त एक प्रकार से घुल-मिल गये थे। उनका कोई अपना अस्तित्व ही नहीं रह गया था और न मार्क्सवादी दर्शन ही शुद्ध रह गया था। समाज और संस्कृति के अनुकूल समय-समय पर परिवर्तन अवश्य होते रहे हैं। हिन्दी-आलोचक इन भौतिकतापूर्ण सिद्धान्तों को पाकर प्रयोग-वादी आलोचकों से भी अधिक रूढ़िग्रस्त हो गया है। सभी वस्तु एक ही तराजू पर तोली जाने लगी है, संस्कृति और विकास के पीछे नर-कंकाल की नग्नता प्रतिपादित की जाने लगी है। इतना ही नहीं; वरन् मार्क्सवादी आलोचक आलोच्य कृति की अपेक्षा अपने आघात लेखक पर करता है; उसे उत्तम या नीच कहने का निर्णय ले लेता है। वह पूर्णतः निर्णयात्मक प्रणाली का प्रयोग करता है। अपने सिद्धान्तों की तराजू पर जो खरा उतरता है, वह उत्तम; और जो जरा इधर-उधर हिल रहा है, वह हेय है ऐसा निर्णय लेने के लिए ये आलोचक सदैव तैयार हैं।

मार्क्सवादी हिन्दी-आलोचकों में डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह,

अमृतराय, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि प्रमुख हैं। इन सभी आलोचकों ने प्रगतिवादी सिद्धान्तों का विवेचन किया है पर दुःख है कि अभी तक 'प्रगतिवादी समीक्षा-सिद्धान्त' पर किसी भी आलोचक ने कलम नहीं उठायी है। उसके दो कारण हो सकते हैं। पहला कारण तो यह हो सकता है कि संतुलित विवेचन के लिए जितने अध्ययन, अनुशीलन एवं सामंजस्य की आवश्यकता पड़ती है, वह उनमें नहीं है और दूसरा कारण यह हो सकता है कि उन्हें सिद्धान्तनिरूपण का उत्तरदायित्व स्पष्ट न हुआ हो। जो भी हो, पर वस्तुस्थिति सचमुच दुःख की है। अपने सिद्धान्तों में, जो इधर-उधर लेखों और निबन्धों के रूप में बिखरे पड़े हैं, प्रगतिवादी यह स्वीकार करता है कि उनके दृष्टिकोण में, अतीत और वर्तमान, दोनों की समीक्षा कर सकने की क्षमता हो, पर व्यावहारिकता में सत्य कितना है, इसके साथ प्रश्नवाचक चिह्न लगा हुआ है। हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचकों में शिवदानसिंह चौहान का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक और उदार कहा जा सकता है। श्री चौहान मार्क्सवादी भौतिकवाद के सिद्धान्तों से भारतीय जीवन की मान्यताओं का सहज सामंजस्य प्रस्तुत करना चाहते हैं। प्रचार उनका उद्देश्य नहीं है। साहित्य को वे किसी वर्ग या राजनीतिक दलबन्दी में सीमित नहीं करना चाहते। डॉ० रामविलास शर्मा की शैली में जहाँ ऐतिहासिक पद्धति का प्रभाव परिलक्षित होता है, वहाँ तो वे बहुत ही संयत एवं निष्पक्ष रहते हैं; पर जहाँ जीवन के मूल्यांकन का प्रश्न उठ खड़ा होता है, वहाँ उनके सामने एक निश्चित रेखा खिंच जाती है और उनकी विचारधारा बहुत कुछ संकुचित हो जाती है। प्रकाशचन्द्रजी ने किया अपने लिए विश्लेषणात्मक पद्धति अपनाई है जिस पर प्रभाववादी होने का सन्देह भी जा सकता है।

साहित्यिक विचारधारा और बढ़ती हुई आलोचना की प्रगति को देखकर यह अवश्य कहा जा सकता है कि हमें आलोचना का भविष्य उज्ज्वल दिखायी दे रहा है। एक चेतना परिलक्षित हो रही है जो साहित्य के उचित मूल्यांकन की राह दिखा सकेगी। अध्ययन और अनुशीलन की आकांक्षा जाग उठी है। भविष्य के प्रति आशा की जा सकती है पर वर्तमान को देखकर इस ओर संकेत करना अनिवार्य है कि आलोचक और साहित्यकार दोनों को अपना दृष्टिकोण उदार करना चाहिए।

पिछले दिनों एक नवीन चिन्तनधारा निकल पड़ी है—प्रयोगवाद। पर अभी तक इसके स्वरूप, सिद्धान्त और साहित्य पर केवल प्रयोग हो रहे हैं। यह कहना अभी कठिन है कि इन रचनाओं का साहित्यिक मूल्यांकन क्या होगा।

उपसंहार

पिछले अध्यायों में हिन्दी-आलोचना की पृष्ठभूमि तथा प्रधान प्रवृत्तियों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। हिन्दी के कई सौ वर्ष आलोचना की आधुनिक विधा से अपरिचित रहे हैं। संस्कृत-साहित्य में साहित्यशास्त्र का निर्माण हो चुका था और उसी चिन्तन के माध्यम से काव्य की परख होती थी। रस, अलंकार, ध्वनि, बक्रोक्ति आदि को लेकर साहित्यशास्त्र और समीक्षा के सम्प्रदाय भी बन गए। पर हिन्दी को, पैतृक सम्पत्ति के रूप में जो कुछ मिला था, उसमें बहुत दिनों तक किसी नवीन चेतना का दर्शन नहीं होता है। रीतियुग मूलतः कला का युग था; संस्कृत-साहित्य के सम्प्रदाय का यथासम्भव प्रतिपादन एवं विश्लेषण इस समय किया गया पर किसी प्रकार का नया मानदण्ड, मौलिकता या नयी विचारधारा प्रतिपादित न हो सकी। सच तो यह है कि हिन्दी की आत्मा घुट रही थी। पाश्चात्य साहित्य से सम्पर्क हुआ। उसके अध्ययन तथा अनुशीलन से सतर्क साहित्यिकों की आँखें खुलीं। पहले अपने घर को देखा, संस्कृत-समीक्षाशास्त्र की असीम धनराशि उन्हें मिली। नयी विचार-धारा मिली, पर उसकी पृष्ठभूमि सही अर्थों में साहित्य की परम्परा ही बन पायी। हिन्दी का रिक्त कोष संस्कृत के रस, ध्वनि, अलंकार, गब्द-शक्ति, गुण, दोष आदि से भरा गया। इससे थोड़ा आगे आकर रीतियुगीन साहित्यकारों ने नायिका-भेद को और मिला दिया। यह सचमुच रीतियुग की अपनी वस्तु कही जा सकती है।

पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क से जो बातें हिन्दी-साहित्य को मिली हैं, उनमें सबसे प्रमुख है साहित्य-समीक्षा का स्वतंत्र और शास्त्रीय दृष्टिकोण। महावीरप्रसाद द्विवेदी और मिश्रबन्धुओं द्वारा समीक्षा-पद्धति का प्रारम्भ हुआ; आचार्य शुक्ल द्वारा उसे जीवन-चिन्तन के लिए प्रौढ़ बनाया गया तथा छायावादी कवि-समीक्षकों ने उसे नवीनता की शक्ति से अनुप्राणित किया। नया स्वरूप दिया, नयी चेतना दी। परम्परा से आये हुए विचारों का नवीनीकरण किया गया। रस, अलंकार आदि अपने स्थान पर रहते हुए नयी मान्यताओं के साथ स्वीकार किये गये। रस को ब्रह्मानन्दसहोदर की अपेक्षा आन्तरिक अनुभूति और आनन्द की संज्ञा दी गयी। काव्य को आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति बतलाया गया; व्यक्तित्व-चिन्तन को मान्यता दी गयी, मनोविज्ञान को अपनाया गया, लौकिकता से अलौकिकता की ओर प्रगति रही, नवीन दर्शन प्रतिपादित किया गया, पाश्चात्य मानदण्डों का भारतीय-

करण किया गया; भाषा, भाव, विषय तथा प्रतिपादन-प्रणाली में नवीनता अपनायी गयी; विदेशी प्रतीकात्मक शैली तथा प्रकृति का मानवीकरण का प्रयोग किया गया और ब्रह्म तथा प्रकृति को मानव का सहयोगी बनाया गया। नैतिकता, स्वच्छन्दता और सोष्ठव का क्रमशः प्रतिपादन किया गया। यह परिस्थिति शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति से लेकर छायावादी कवि-समीक्षकों की विचारधारा तक की है।

छायावादी समीक्षकों के आगे हिन्दी-क्षेत्र में पाश्चात्य अनुकरण का रोग बढ़ता ही गया। फ्रायड, ऐडलर, हीगेल और मार्क्स के सिद्धान्तों से हिन्दी साहित्य-गगन पूर्णतः छा गया है। मनोविश्लेषणात्मक, प्रगतिवादी, तथा सौष्टववादी आलोचना-पद्धति का प्रचार बढ़ता गया है। इन शैलियों में समाज और संस्कृति का स्वरूप अवश्य निखरा है; वर्ग-संघर्ष को आश्रय मिला है तथा समाज के नग्न चित्रण की प्रवृत्ति का परिचय मिला है। साथ ही प्रभाववादी, चरितप्रधान, ऐतिहासिक आदि शैलियों का भी समानान्तर विकास चल रहा है। अब हमारी समालोचना इस स्थल और स्तर पर आ गयी है कि यह अंश पहले की अपेक्षा काफी पूर्ण हो गया है। स्तर और उद्देश्य में समालोचना के सभी गुण नहीं आ पाये हैं क्योंकि अभी हमारा आलोचक व्यक्तिगत रुचि और प्रचारात्मक विचारधारा को अधिक प्रश्रय देता है, फिर भी भविष्य उज्ज्वल और आशाजनक है।

हिन्दी-आलोचना का सम्पूर्ण साहित्य पुस्तक-परिचय, व्यक्ति-परिचय, विषय और काल-परिवेक्षण, साहित्यशास्त्र और सिद्धान्तों के विवेचन में विभक्त किया जा सकता है। पुस्तक-परिचय या व्यक्ति-परिचय के समालोचना का ढंग हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में बहुत ही महत्व का प्रमाणित हुआ होता पर यहाँ आलोचक लेखक से अपनी मित्रता निभाने लगा है। यह आलोचक के लिए शोभनीय नहीं है। हिन्दी का समीक्षाशास्त्र भी अब तक तैयार हो चुका है। आलोचकों का एक वर्ग इसी कार्य में रात-दिन लगा हुआ है कि प्राप्त साहित्य के आधार पर, एक निष्कर्ष पर पहुँचकर, सिद्धान्तरूप में उसका निर्णय सभी को स्वीकार हो। इस साहित्यशास्त्र की परम्परा का प्रारम्भ पं० रामदहिन मिश्र के 'काव्यालोक' से होता है जहाँ संस्कृत का आधार लेकर मिश्र जी ने हिन्दी-साहित्यशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों का संकेत किया है। इसी समय 'साहित्य-दर्पण', 'रसगंगाधर' और 'काव्यप्रकाश' के हिन्दी-अनुवाद भी हुए हैं। हिन्दी रसगंगाधर, और नव रस का प्रयास भी उल्लेखनीय है। 'छन्द-प्रभाकर' भी अपना अलग अस्तित्व रखता है। डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'अलंकारपीयूष' तथा पं० बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्यशास्त्र' श्रेयस्कर प्रयास गिने जा सकते हैं। हरिऔध का 'रसकलश' एक नया प्रयोग है, पर हिन्दी-क्षेत्र का एक उल्लेखनीय प्रयास है। इसी परम्परा में बाबू गुलाबराय के विवेचन भी लिए जा सकते हैं।

साहित्यशास्त्र की एक दूसरी धारा भी है जो पाश्चात्य विचारों पर टिकी हुई है। इस ढंग में कोई पूर्ण ग्रन्थ नहीं लिखा गया है पर छुट-पुट लेख और कृतियों की भूमिकाएँ इस विचारधारा को प्रगति दे रही हैं। लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', आचार्य शुक्ल, प्रसाद, पन्त, श्यामसुन्दर दास, गुलाबराय, नगेन्द्र आदि इसी वर्ग के विकास के लिए प्रयास में लगे हुए थे। अभी तक यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी-आलोचना का समन्वयवादी दृष्टिकोण विकसित हो चुका है पर लक्षण अच्छे दिखायी दे रहे हैं। हिन्दी-आलोचना का भविष्य आशापूर्ण और उज्ज्वल है। अब धीरे-धीरे पक्षपात रहित और साहित्यिक चेतना से परिपूर्ण समालोचना आने की सम्भावना दिखायी दे रही है। आने वाले आलोचक अधिक सतर्क, स्वच्छन्द और मानवतावादी दिखायी दे रहे हैं। काश, निकट भविष्य में भारतीय साहित्यदर्शन और पाश्चात्य सिद्धान्तों में सहज सामंजस्य स्थापित हो जाता। प्रगति स्पष्ट है, विकास के स्वस्थ चिह्न परिलक्षित हो रहे हैं।

